मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 84 ● वर्ष 9, अंक 10 ● दिसम्बर 2019 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

# मज़दूर बिगुल

अनाजमण्डी अग्निकाण्ड: मुनाफ़े की वेदी पर 43 मज़दूरों की बलि 5

एनआरसी और नागरिकता क़ानून : देश को हिटलरी युग में धकेलने का फ़ासिस्ट क़दम 9

फ़ैक्टरी-मज़दूरों की एकता, वर्ग-चेतना और संघर्ष का विकास 13

## मेहनतकश साथियो! देश को आग और ख़ून के दलदल में धकेलने की फासिस्ट साज़िश को नाकाम करने के लिए एकजुट होकर आगे बढ़ो!

नरेन्द्र मोदी के दूसरी बार सत्ता में आने के बाद कहा गया था कि पिछली बार जो काम शुरू किये गये थे इस बार उन्हें पूरा किया जायेगा। पिछले छह महीने इस बात के गवाह हैं कि भाजपा और संघ परिवार ने इस एजेण्डा को आगे बढ़ाते हुए देश को तबाही की राह पर कितनी तेज़ रफ़्तार से बढ़ा दिया है। इन चन्द महीनों में बड़े पैमाने पर निजीकरण शुरू किया गया है, लाखों कर्मचारियों की छँटनी की प्रक्रिया शुरू कर दी गयी है, मज़दूरों-कर्मचारियों के क़ानूनी अधिकारों को छीन लेने के लिए संसद में क़ानून पास किये गये हैं, जमाख़ोरों-मुनाफ़ाख़ोरों को दाम बढ़ाने की छूट देकर जनता पर महँगाई का बोझ लाद दिया गया है, देश की एक बड़ी आबादी को महीनों से क़ैद करके रखा गया है, और धर्म के नाम पर लोगों को बाँटने की सनक में पूरे देश को आग में झोंक देने की साज़िश को अमली जामा पहना दिया गया है। जब छात्रों-नौजवानों की अगुवाई में देशभर का अवाम इस साज़िश को पहचानकर इसके ख़िलाफ़ उठ खड़ा हुआ है तो फ़ासिस्ट सत्ता ने उन पर बर्बर दमन ढाना शुरू कर दिया है। जामिया मिलिया और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में पुलिस ने सरकार के इशारे पर जो दमन का जो ताण्डव रचा उसे कभी भूला नहीं जायेगा।

**सम्पादक मण्डल**

**जो लोग पिछले कई सालों से पिलाये जा रहे ज़हर के नशे में अभी इस ख़तरे को समझ नहीं रहे हैं और इस भ्रम में हैं कि मुसलमानों को "सबक़ सिखाकर" भाजपा आने वाले दिनों में बहुसंख्यकों के लिए अच्छे दिन ले आयेगी, उनके भ्रम भी जल्दी ही टूटेंगे। बहुत-से लोग ख़तरे को तभी भाँप पाते हैं जब डण्डा उनके सिर पर बजने लगता है।** जर्मनी में भी एक बड़ी आबादी ऐसे लोगों की थी जो 'मोदी-मोदी' की तर्ज़ पर 'हेल हिटलर' का नारा तब तक लगाते रहे जब तक कि पूरा देश तबाह नहीं हो गया। हिटलर ने अपने बंकर में चूहे की तरह छुपकर आत्महत्या कर ली, मगर जर्मनी को बरसों तक इस तबाही की मार झेलनी पड़ी। आज हिटलर का नाम जर्मनी ही नहीं पूरी दुनिया में गाली बन चुका है।

ऐसे लोगों से हम यही कहेंगे कि ज़रा याद करो कि "अच्छे दिनों" के कितने बड़े-बड़े वायदे करके मोदी सत्ता में आये थे। नज़र दौड़ाओ देश की हकीक़त पर, आपको क्या नज़र आ रहा है? बिकते सार्वजनिक उद्योग, छिनते रोज़गार, कमरतोड़ महँगाई, बढ़ते दलित-स्त्री-अल्पसंख्यक विरोधी अपराध और धार्मिक आधार पर देश को बाँटने की साजिशें! क्या यही अच्छे दिन हैं? **हिन्दू हितों का ढोल बजाने वाले दरअसल अल्पसंख्यकों, दलितों, स्त्रियों और ग़रीबों के ही नहीं बल्कि हिन्दुओं के भी सबसे बड़े दुश्मन हैं।** नोटबन्दी, बैंकों के पैसों की लूट, निजीकरण, ठेकाकरण से चन्द धनपतियों को छोड़कर किसका फायदा हुआ है? बेरोज़गारी, महँगाई और गरीबी किसकी कमर तोड़ रहे हैं? निश्चित तौर पर समस्त जनता की, चाहे वे किसी भी जाति-मज़हब-रंग-नस्ल के ही क्यों न हों। भाजपा सरकार देश की जनता के गले में फन्दा बनी समस्याओं का कोई हल नहीं निकाल सकती। यह केवल लोगों को आपस में

(पेज 8 पर जारी)

## स्त्रियों के विरुद्ध जारी बर्बरता – निरन्तर और संगठित प्रतिरोध की ज़रूरत है

पिछले चन्द हफ़्तों के भीतर उत्तर प्रदेश में और पूरे देश में स्त्रियों के विरुद्ध बर्बर अपराधों की जो बाढ़ आ गयी वह हर नागरिक के लिए चिन्ता और ग़ुस्से का सबब है, मगर यह तो होना ही था।

**जब सत्ता में ऐसे लोग बैठे हों जिनकी सोच स्त्रियों को पैरों की जूती समझने की हो, जिनकी पार्टी और संसदीय दल बलात्कार के आरोपियों से भरे हुए हों, जिनके मंत्री और विधायक एक बच्ची के बलात्कारियों के पक्ष में तिरंगा लेकर जुलूस निकालते हों, जिनके मुख्यमंत्री के मंच से मुस्लिम महिलाओं को क़ब्र से निकालकर बलात्कार करने का आह्वान किया जाता हो, हर बलात्कारी बाबा जिनके नेताओं के अगल-बगल दिखायी देता हो, और जिनकी विचारधारा में बलात्कार को विरोधी पर विजय के हथियार के रूप में महिमामण्डित किया जाता हो, तो आप स्त्रियों के लिए बराबरी, सम्मान और न्याय की उम्मीद कैसे कर सकते हैं?**

बलात्कार के मामले में दिल्ली की एक अदालत ने भाजपा विधायक कुलदीप सिंह सेंगर को दोषी ठहरा दिया है। मगर टीवी चैनल और संसद में ड्रामे करने वाली भाजपा की महिला सांसद इस पर शान्त हैं। दो साल तक सेंगर के हर आपराधिक क़दम का नंगई के साथ बचाव करने वाली भाजपा ने अभी पिछले अगस्त में उसे पार्टी से निकाला जब पीड़ित लड़की और उसके परिवार पर क़ातिलाना हमले के बाद देशभर में फिर से भारी विरोध होने लगा। मगर चिन्मयानन्द अभी भी न सिर्फ़ पार्टी में बना हुआ है बल्कि पीड़ित लड़की को उसके इशारों पर लगातार परेशान किया जा रहा है।

देश में लगातार बढ़ते स्त्री विरोधी घिनौने अपराधों से ज़ाहिर है कि 16 दिसम्बर 2012 के बाद हुए आन्दोलनों और देशव्यापी ग़ुस्से की लहर के बावजूद ज़मीनी हालात में कोई अन्तर नहीं आया है। बल्कि 2014 में "बहुत हुआ स्त्री पर वार" के नारे के साथ सत्ता में आने वाली भाजपा के शासन में हालात बद से बदतर होते गये हैं।

ऐसे में, बलात्कारियों को सख़्त से सख़्त सज़ा दिलाने और पीड़ितों को इंसाफ़ के लिए सड़कों पर उतरने के साथ ही हमें इस सवाल पर भी सोचना ही होगा कि स्त्रियों और बच्चियों पर बर्बर हमलों और बलात्कार की घटनाएँ इस क़दर क्यों बढ़ती जा रही हैं और इनके लिए कौन-सी ताक़तें ज़िम्मेदार हैं! हमें सोचना ही होगा कि क्या बलात्कार या फिर कोई भी स्त्री-विरोधी अपराध महज़ क़ानून-व्यवस्था या सुरक्षा का मसला है? स्त्रियों के ख़िलाफ़ इतनी बड़ी तादाद में अपराध होते ही क्यों हैं? बात-बात पर महान भारतीय संस्कृति की दुहाई देने वाले हमारे समाज में स्त्रियों के विरुद्ध इतने गलीज़ किस्म की नफ़रत पैदा कहाँ से होती है?

इसका जवाब कठिन नहीं है। एक ओर जब देश के तमाम इंसाफ़पसन्द और संवेदनशील युवा, स्त्रियाँ और नागरिक ऐसे अपराधों के विरुद्ध सड़कों पर उतरते हैं, तभी रूढ़ियों, कूपमण्डूकता, अन्धविश्वास, साम्प्रदायिक कट्टरपंथ और कठमुल्लापन के ठेकेदार पूरी नंगई और बेशरमी के साथ औरतों के बारे में अपनी घृणास्पद सोच की उल्टी करना शुरू कर देते हैं। और देश की तमाम पूँजीवादी पार्टियों के नेता-मंत्री से लेकर नौकरशाह और पुलिस

(पेज 8 पर जारी)

**बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!**

# क्या आप मज़दूर बिगुल के रिपोर्टर बनेंगे?

क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों के जीवन, उनके काम के हालात, उनकी समस्याओं और संघर्षों के बारे में आप जैसे देश के करोड़ों मज़दूरों-कर्मचारियों को और देश के आम नागरिकों को पता चले? क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों की ख़बरें जो हर मीडिया से ग़ायब रहती हैं, वे मज़दूरों के अपने अख़बार के ज़रिये लोगों तक पहुँचें?

**तो कलम उठाइए और अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव हमें भेजिए।**

**'मज़दूर बिगुल' आपका अपना अख़बार है। यह उन तमाम मेहनतकशों की आवाज़ है जिनकी बात इस देश के दर्जनों टीवी चैनलों और हज़ारों अख़बारों में कहीं सुनायी नहीं देती, मगर जिनकी मेहनत के बग़ैर यह देश एक दिन भी चल नहीं सकता।**

**आपको अगर टाइप करने में समस्या है तो काग़ज़ पर लिखकर उसकी फ़ोटो लेकर हमें व्हाट्सऐप पर भेज दीजिए। आप फ़ोन पर, व्हाट्सऐप पर या बिगुल के साथियों से मिलकर भी उन्हें जानकारियाँ दे सकते हैं। इसके बारे में कुछ भी जानने के लिए हमसे सम्पर्क करिए या अपने इलाक़े में 'मज़दूर बिगुल' बाँटने वाले साथियों से बात करिए।**

**आप इन तरीक़ों से अपनी बात हमारे तक पहुँचा सकते हैं :**

डाक से भेजने का पता : **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**

ईमेल से भेजने का पता : **bigu।akhbar@gmai।.com**

**व्हाट्सऐप नम्बर : 9721481546**

## आपस की बात

## सभी साथी एकजुट होकर संघर्ष करें, संघर्ष कभी व्यर्थ नहीं जाता!

साथियो, मैं हरियाणा में एक ऑटो कम्पनी का मज़दूर हूँ। इस कम्पनी में लगभग 700 मज़दूर साथी कार्य करते हैं। हमारे सारे मज़दूर साथियों के साथ इस कम्पनी की मैनेजमेंट ने जो जुल्म किये उसके बारे में मैं आज सारे मज़दूर भाइयों से कुछ बात बोलना चाहता हूँ।

हमारे कई साथियों को कम्पनी वालों ने बिना गलती के बाहर निकाल दिया। कम्पनी वालों ने गेट पर ताला लगा दिया और उन साथियों को काम से निकालने का नोटिस चिपका रखा था। कम्पनी वालों ने बोला कि इन मज़दूरों को छोड़ कर बाकी सभी 'अण्डरटेकिंग' पर दस्तखत करके अन्दर जा सकते हो। उस फॉर्म में लिखा था कि मज़दूर कम्पनी में कुछ भी माँग नहीं रखेंगे उसके बाद ही अन्दर जाने की अनुमति मिलेगी। हमें बहुत दुःख हुआ कि जिस कम्पनी को हम सब इतनी मेहनत करके इतना ऊपर तक लाये आज वही कम्पनी कह रही है कि हम कोई माँग नहीं कर सकते। हमने कहा कि पहले इन बन्दों को काम पर वापस लो फिर उनकी जाँच की जाये, अगर उनकी कोई गलती मिलती है तो आप निकाल सकते हैं लेकिन कम्पनी वालों ने हमारी बात नहीं सुनी। हमारी यूनियन के साथी डी. सी. व लेबर कोर्ट के पास गये और हमारी समस्याएँ बतायी लेकिन उन्होंने मदद करने से साफ़-साफ़ मना कर दिया। वे सब कम्पनी की भाषा बोले, उन्होंने ये भी कहा कि अण्डरटेकिंग पर हस्ताक्षर ना करके मज़दूरों ने गलत किया है। हमारे सारे सथियों ने कहा कि हम सभी काम करना चाहते हैं और सभी अन्दर जाने को तैयार हैं लेकिन हम सभी साथियों सहित साथ जायेंगे और 'ग़ैरकानूनी अण्डरटेकिंग फॉर्म' पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे।

कम्पनी में हमारे मज़दूर साथियों का बहुत शोषण होता रहा है। ऐसे ही हालात में लोग आत्महत्याओं के लिए मजबूर होते हैं। हमने निर्णय लिया था कि हम यूनियन के 'रजिस्ट्रेशन' के लिए 'फ़ाइल' लगायेंगे। जब लेबर कोर्ट से फ़ाइल 'ओके' होकर कम्पनी आयी तो कम्पनी ने चाल चलनी शुरू कर दी। जब वेरिफिकेशन हुआ तब हमारी फ़ाइल पूरी तरह से ठीक थी लेकिन कम्पनी वालों ने हमारी 'यूनियन फाइल' 'रिजेक्ट' कराने में पूरी ताकत लगा दी। उन्होंने लेबर कोर्ट में इतना पैसा खिला दिया कि लेबर कोर्ट ने कम्पनी मैनेजमेंट की बात बोली। अब किस पर भरोसा करोगे? लेबर कोर्ट कहने के लिए मज़दूरों के लिए होता है लेकिन उन्होंने सैकड़ों मजदूरों की रोजी रोटी छीनने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कम्पनी मैनेजमेंट और श्रम विभाग ने हमारे यूनियन नम्बर को रोक दिया गया और षड्यन्त्र करके हमारी पंजीकरण फाइल रद्द करा दी।

कम्पनी को काम करते 5 साल हो गये लेकिन किसी भी मज़दूर की सैलरी ढंग से नहीं बढ़ी है, इक्के दुक्के की तनख्वाह किसी कि बढ़ी भी है तो वह भी थोड़ी बहुत जबकि हमारे साथ ही ज्वाइन किये मैनेजमेंट स्टाफ की सैलरी कई गुना हो गयी है। जब सैलरी बढ़ाने की बात आती है तो कम्पनी वाले कहते हैं कि कम्पनी घाटे में चल रही है। जबकि जापानी कम्पनी नये मॉडल हेतु उत्पादन करने के लिए लाइन लगा कर भर्ती कर रही है। इससे पता चलता है कम्पनी वाले और सारे प्रशासन वाले मिले हुए हैं। मोदी जी विदेशी कम्पनी लाकर बोलते हैं कि मैं भारत की गरीबी हटाऊंगा लेकिन कम्पनियों के व्यवहार से लगता है जैसे यहाँ पर उन्ही की तानाशाही चलती है बाकी सभी उनके सामने पूँछ हिलाते हैं।

मज़दूर भाइयो! अगर हम एकजुट नहीं हुए तो ये कम्पनियाँ प्रशासन के साथ मिलीभगत करके यूँ ही हमारा शोषण करती रहेंगी। सभी साथियों से मेरी प्रार्थना है कि एकजुट हो जाओ। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो मज़दूर का और अधिक शोषण होगा। सभी साथियों से प्रार्थना है कि सभी साथी एकजुट होकर संघर्ष करें, संघर्ष कभी व्यर्थ नहीं जाता। इंक़लाब ज़िन्दाबाद, लाल सलाम साथियो!

– आपका एक मज़दूर साथी!

*"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।"* – **लेनिन**

## 'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

**यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।**

**बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।**

**सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।**

### मज़दूर बिगुल की वेबसाइट

**www.mazdoorbigu□.net**

**इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।**

**आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :**

**www.facebook.com/MazdoorBigu□**

### 'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

**1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।**

**2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।**

**3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।**

**4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।**

**5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।**

**प्रिय पाठको,**

**बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।**

**मनीऑर्डर के लिए पता :**

**मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना**
**डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**

**बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigu।**
**खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400**
**पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ**

**सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये**

**मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :**

**फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546, 9971196111**
**ईमेल : bigu।akhbar@gmai।.com**
**फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigu।**


## मज़दूर बिगुल

| | |
|---|---|
| सम्पादकीय कार्यालय | : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555 |
| दिल्ली सम्पर्क | : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 011-64623928 |
| ईमेल | : bigu।akhbar@gmail.com |
| मूल्य | : एक प्रति – 5/- रुपये<br>वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित)<br>आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये |

# होण्डा मानेसर के ठेका मज़दूरों का संघर्ष जारी

**आईएमटी मानेसर स्थित होण्डा मोटरसाइकिल ऐण्ड स्कूटर्स इण्डिया के ठेका मज़दूरों का संघर्ष पिछले 5 नवम्बर से जारी है। मन्दी का हवाला देकर बिना किसी पूर्वसूचना के मज़दूरों की छँटनी किये जाने के विरोध में मज़दूर संघर्ष की राह पर हैं।**

कम्पनी द्वारा पिछले लम्बे समय से ठेका मज़दूरों को बिना किसी पूर्वसूचना के काम से निकाला जा रहा था। संघर्षरत मज़दूर पिछले 5-7 साल से अधिक समय से कम्पनी में काम कर रहे थे। कम्पनी मज़दूरों को "रिलीविंग" के नाम पर छुट्टी पर भेजती है और दुबारा काम पर वापस नहीं बुलाती। ऑटोमोबाइल सेक्टर में मज़दूरों का 85 फ़ीसदी हिस्सा अस्थाई, ठेका मज़दूरों के तौर पर काम करता है। ये मज़दूर कारख़ाना प्रबन्धन की देखरेख में मुख्य उत्पादन पट्टी पर स्थाई प्रकृति का काम करते हैं। किन्तु, इनकी नियुक्ति व वेतन का भुगतान ठेकेदार के द्वारा किया जाता है। आमतौर पर मज़दूरों को ग्यारह महीने के लिए काम पर रखा जाता है। ग्यारह महीने बाद मज़दूर का ठेकेदार बदल दिया जाता है। ठेका बदलने के वक़्त मज़दूर को 3 से 15 दिनों के "रिलीविंग पीरियड" पर रखा जाता था, उसके बाद ठेकेदार बदलकर उनकी दुबारा ज्वाइनिंग करायी जाती थी। इस तरह से सालों से कम्पनी के लिए काम करने वाला मज़दूर काग़ज़ात में महज़ कुछ महीने से ही कार्यरत दिखाया जाता है। एक कम्पनी के अन्दर दो से तीन ठेका एजेंसियों के द्वारा मज़दूरों की भर्ती की जाती है। होण्डा कम्पनी सुकमा सन्स ऐण्ड एसोसिएट्स, कैसी इण्टरप्राइज़ेज़ और कमल इण्टरप्राइज़ेज़ नामक ठेका एजेंसियों के तले मज़दूरों की भर्ती करती है। रिलीविंग के वक़्त मज़दूरों की ठेका एजेंसी को बदल दिया जाता है यानी पिछले सत्र में जो मज़दूर कमल इण्टरप्राइज़ेज़ का मज़दूर था अगले सत्र में कैसी या सुकमा सन्स ऐण्ड एसोसिएट्स का मज़दूर हो जाता है। इस तरह सालों साल तक मुख्य उत्पादन पट्टी पर स्थाई प्रकृति का काम कर रहे मज़दूर महज़ कुछ माह से काम करने वाले ठेका मज़दूर के तौर पर दिखाये जाते हैं।

इस प्लाण्ट से पिछले कई महीने से सालों से काम कर रहे मज़दूरों को इसी तरीक़े से रिलीविंग कर घर बैठा दिया जा रहा है। मज़दूरों को झूठा आश्वासन दिया जाता है कि जब काम दुबारा गति पकड़ेगा तो उन्हें दुबारा वापस काम पर बुलाया जायेगा। इन ठेका मज़दूरों के ख़ून-पसीने को लूटकर कम्पनी अपनी तिजोरी भरती है, लेकिन उनके प्रति किसी भी तरह की ज़िम्मेदारी से पल्ला झाड़ लेती है। और यह सब श्रम विभाग, सरकार, मीडिया की नाक के नीचे अंजाम दिया जाता है।

होण्डा में पिछले कई महीने से

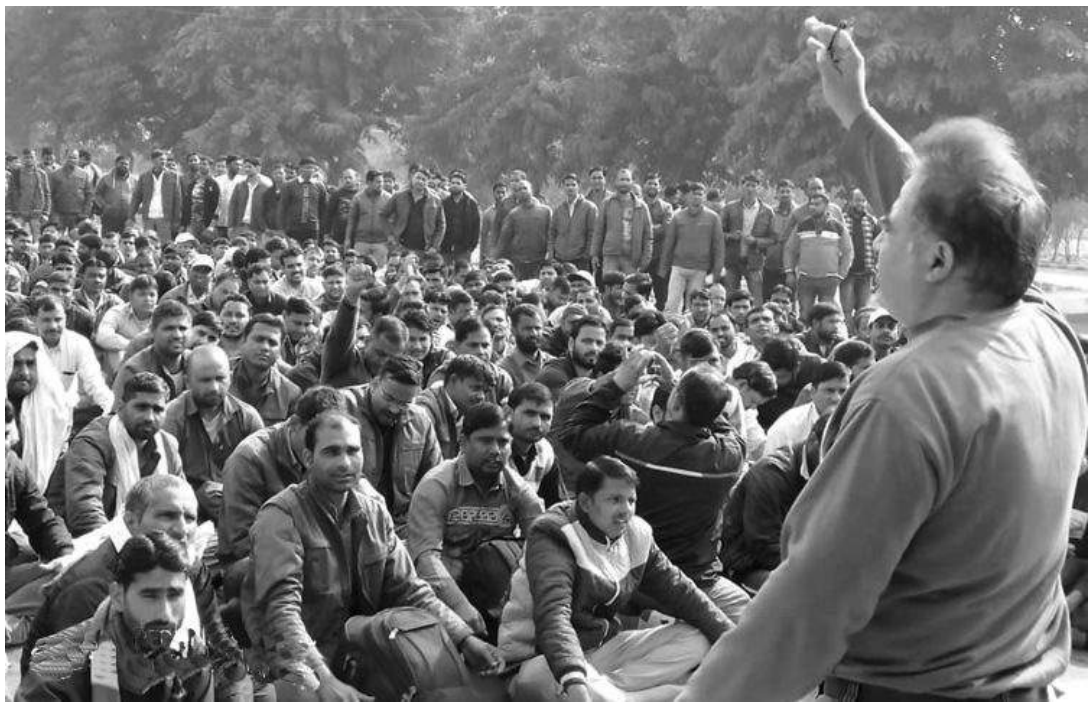

मज़दूरों की छँटनी की जा रही थी। दीवाली के पहले अगस्त माह में, ग्यारह महीने का समय पूरा होने से पहले ही, क़रीब 800 मज़दूरों को "रिलीविंग" के नाम पर अवकाश पर भेज दिया गया, जिन्हें दुबारा काम पर नहीं बुलाया गया। इसके विरोध में कारख़ाने में कार्यरत अन्य ठेका मज़दूरों ने स्वतःस्फूर्त ढंग से तीन दिनों तक लंच का बहिष्कार किया था। इसके पहले लम्बे अन्तराल के लिए छुट्टी पर भेजने के बाद कम्पनी कुछ मज़दूरों को दुबारा काम पर बुला लेती थी, तो वहीं कईयों का हमेशा के लिए दरवाज़ा बन्द कर दिया जाता था। मज़दूरों को सोशल मीडिया पोस्ट का हवाला देकर उन्हें काम से निकाल दिया जाता था। मज़दूरों को निकाले जाने पर किसी तरह का कोई मुआवज़ा नहीं दिया जाता था। काम से निकाले जाने से पहले मज़दूर का कारख़ाने के अन्दर कई बार कार्यस्थल बदला जाता। लम्बे अन्तराल के लिए छुट्टी पर भेजने तथा निकाले जाने से पहले कारख़ाने के अन्दर काम की जगह बदलने के कारण जहाँ कारख़ाना प्रबन्धन के लिए मज़दूरों की छँटनी करना आसान होता था, वहीं मज़दूरों के लिए संगठित होकर इसका प्रतिरोध करना कठिन हो जाता था। जहाँ मज़दूर उहापोह में रहते कि उन्हें दुबारा काम पर बुलाया जायेगा, वहीं उन्हें अन्य निकाले गये मज़दूरों के बारे में जानकारी नहीं होती थी।

इस तरह की जा रही छँटनी का मज़दूरों के ऊपर बुरा असर पड़ रहा है। कुछ महीने पहले अनिल कुमार नामक मज़दूर ने अपने हालात से परेशान होकर ख़ुदकुशी कर ली। कई अन्य मज़दूर अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे हैं। ठीक इसी तरह से मज़दूरों की छँटनी करने के मक़सद से 4 नवम्बर को कम्पनी ने एक नोटिस लगाया जिसमें कहा गया था कि ऑटोमोबाइल मार्केट की ख़राब स्थिति के मद्देनज़र कम्पनी का उत्पादन कम हो गया है जिसमें अगले कुछ समय के लिए सुधार के कोई आसार नहीं हैं। इसके चलते कम्पनी के दिशानिर्देशों के अनुसार नवम्बर, दिसम्बर, जनवरी, फ़रवरी माह की रिलीविंग नवम्बर माह में ही की जा रही है और ब्रेक अवधि तीन माह की रहेगी। इस बाबत मज़दूरों ने जब प्रबन्धन से बातचीत करना चाहा तब प्रबन्धन ने उन्हें अगले रोज़ जनरल शिफ़्ट में, सुबह 8:30 बजे, आने के लिए कहा। जनरल शिफ़्ट में आये मज़दूरों को भारी पुलिस बल की मौजूदगी में कारख़ाने के अन्दर प्रवेश करने से रोक लिया गया। जब इसकी जानकारी अन्दर काम कर रहे, सुबह ए शिफ़्ट में आये मज़दूरों को हुई तो वे लंच टाइम में क़रीब 10:00 बजे से काम बन्द कर हड़ताल पर चले गये। बाहर के मज़दूर बाहर और अन्दर के मज़दूर अन्दर धरने पर बैठ गये। अन्दर बैठे ठेका मज़दूरों ने 14 दिनों तक कारख़ाना परिसर में अपना क़ब्ज़ा जमाये रखा जिसके कारण कारख़ाना प्रबन्धन उत्पादन जारी रखने में असमर्थ था। मज़दूरों के द्वारा किये गये इस अचानक हमले के लिए प्रबन्धन तैयार नहीं था। उसे उम्मीद नहीं थी कि मज़दूरों के एक हिस्से की छँटनी के विरोध में सारे ठेका मज़दूर संघर्ष के रास्ते पर चल पड़ेंगे।

आनन-फ़ानन में कम्पनी ने पहले तीन दिनों के लिए, उसके बाद 11 नवम्बर से अनिश्चितकाल के लिए छुट्टी करने की घोषणा की। ऐसे में काम पर जा रहे स्थाई मज़दूर भी बाहर आ गये। मज़दूर कारख़ाने के अन्दर बेहद अमानवीय परिस्थितियों का सामना करते हुए हौसले के साथ डटे रहे। कारख़ाना प्रबन्धन ने पहले कैण्टीन बन्द कर दिया, फिर मज़दूरों के दबाव में खाने का जो प्रबन्ध किया गया वह बेहद घटिया था। मज़दूरों को कच्चा दूध, बासी फल, बिस्किट आदि दिया जाने लगा। हद तो तब हो गयी जब कारख़ाना प्रबन्धन ने शौचालय तक बन्द कर दिया। मज़दूर कारख़ाने के अन्दर सीढ़ियों पर रात गुज़ार रहे थे। इन परिस्थितियों में कुछ मज़दूरों की सेहत बिगड़ी, किन्तु उनका हौसला नहीं टूटा। वहीं बाहर धरने पर बैठे मज़दूर भी कारख़ाने की चहारदीवारी के साथ सड़क पर दिन-रात ठण्ड में खुले आसमान के नीचे डटे रहे।

इसी बीच कम्पनी 16 मज़दूरों के ख़िलाफ़ कोर्ट से कारख़ाना परिसर ख़ाली करने का आदेश ले आयी। होण्डा के संघर्षरत ठेका मज़दूरों ने स्थाई मज़दूरों की यूनियन के नेतृत्व में, जोकि एटक से सम्बन्धित है, अपना संघर्ष आगे बढ़ाया। यूनियन और ट्रेड यूनियन काउण्सिल के आश्वासन पर मज़दूरों ने कारख़ाना परिसर ख़ाली कर दिया और कारख़ाने के पास ही एक मैदान को अपना धरनास्थल बना लिया। यूनियन नेतृत्व ने मज़दूरों से कहा कि कारख़ाना प्रबन्धन इसी शर्त पर बात करने के लिए तैयार है कि मज़दूर पहले कारख़ाना परिसर ख़ाली करें! जिसकी सम्भावना थी वही हुआ, प्रबन्धन आगे भी किसी तरह की बातचीत के लिए तैयार नहीं हुआ। होण्डा प्रबन्धन का अड़ियल रवैया जगज़ाहिर है। यूनियन प्रबन्धन के बीच होने वाले त्रैवार्षिक समझौते को प्रबन्धन पिछले डेढ़ साल से अधिक समय से लटकाये हुए है। होण्डा प्रबन्धन ने दुबारा उत्पादन शुरू करने के मक़सद से 25 नवम्बर से स्थाई मज़दूरों को 'गुड कण्डक्ट अण्डरटेकिंग' भरकर काम पर वापस बुला लिया। साथ ही यूनियन के पदाधिकारियों समेत छह मज़दूरों को निलम्बित कर दिया। अपने संघर्ष के दरमियान होण्डा मज़दूरों ने दो बार अपने धरनास्थल से लेकर डीसी कार्यालय तक रैली निकाली।

प्रबन्धन मज़दूरों की एकता तोड़ने का भरसक प्रयास कर रहा है। प्रबन्धन मज़दूरों के बीच अलग-अलग माध्यम से वहम फैलाने और उनकी एकता को

**(पेज 4 पर जारी)**

# मोदी राज में मज़दूरों के ऊपर बढ़ती बेरोज़गारी और महँगाई की मार

**– लालचन्द्र**

2014 में अच्छे दिन के नारे के साथ भाजपा सत्ता में आयी और प्रधानमंत्री मोदी ख़ुद को मज़दूर नम्बर एक कहते थे। अब उनका दूसरा कार्यकाल चल रहा है। उसके पहले कार्यकाल में नोटबन्दी के फ़ैसले की सबसे ज़्यादा मार मज़दूर वर्ग पर पड़ी थी। नोटबन्दी के कारण देशभर में बहुत-से छोटे-मझोले उद्योगों पर ताला लटक गया और भारी तादाद में मज़दूरों को अपने काम से हाथ धोना पड़ा।

मन्दी की मार से मज़दूरों में बेरोज़गारी भयंकर रूप से बढ़ गयी है। इसे झारखण्ड के एक उदाहरण से समझा जा सकता है। झारखण्ड के जमशेदपुर में टाटा की टेल्को कम्पनी है जहाँ मोटरवाहनों का उत्पादन होता है, टेल्को के लिए पार्टस बनाने वाली चौदह सौ उत्पादन इकाइयाँ हैं जिनमें हज़ारों मज़दूरों को काम मिलता था। मन्दी के कारण टेल्को के उत्पादन में गिरावट आयी जिससे कई छोटी उत्पादन इकाइयाँ तो बन्द हो गयीं और जो थोड़ी चल भी रही हैं उसमें मज़दूरों को अनियमित काम ही मिल पा रहा है। यही हाल आईएमटी मानेसर में होण्डा मज़दूरों का हो रहा है जिसकी वजह से वे कई हफ़्तों से संघर्ष कर रहे हैं।

टीवी चैनलों और अख़बारों में बेरोज़गारी की ख़बर अगर भी आती भी है तो केवल दफ़्तरी काम तलाश रहे पढ़े-लिखे युवाओं के बारे में होती है। मज़दूरों के बीच बेरोज़गारी का क्या आलम है यह कभी नहीं दिखाया जाता। किसी भी औद्योगिक इलाक़े में जाकर इसे देखा जा सकता है। ऊपर से महँगाई भयांकर बढ़ जाने के बावजूद मज़दूरी में बढ़ोत्तरी नाम के लिए हो रही है। मेनितकश परिवार किन हालात में अपने बच्चों का पेट पाल रहे हैं इसे केवल उनके बीच जाकर ही देखा जा सकता है।

2015 तक हालत यह थी कि कामकाजी 82 फ़ीसदी लोगों की आमदनी दस हज़ार रुपये से कम थी। नियमित कामगारों की मासिक आमदनी थी तेरह हज़ार बासठ रुपये और अनियमित कामगारों की पाँच हज़ार आठ सौ तिरेपन रुपये थी। 2017 में आर्थिक बढ़त का तीन चौथाई हिस्सा महज़ एक फ़ीसदी लोगों के हाथों में पहुँच रहा था। कोई भी इन आँकड़ों से समझ सकता है, इतनी कम आमदनी में कोई मज़दूर परिवार कैसे गुज़र-बसर करेगा, जब प्याज़ के दाम आसमान छू रहे हैं। हरी सब्ज़ियों से लेकर दवा-इलाज का खर्च ,कमरे का किराया, इतना भारी पड़ता है कि उनका जीवन बद से बदतर होता जा रहा है।

बेहतर जीवन की तलाश में हर साल दो लाख सत्तर हज़ार लोग मज़दूरी के लिए राजधानी दिल्ली पहुँचते हैं। अस्थायी काम और मँहगाई की वजह से छह महीने भी दिल्ली में नहीं टिक पाते और अपने मूल स्थानों की ओर पलायन करने के लिए मजबूर हैं। मनरेगा जैसी सरकारी स्कीम से भी उन्हें राहत नहीं मिलती क्योंकि वायदा तो डेढ़ सौ दिन के काम का होता है, लेकिन केवल बमुश्किल पचास दिन ही काम मिल पाता है।

शहरों में मेन्युफ़ैक्चरिंग की जगह सर्विस सेक्टर का उभरना भी कुशल मज़दूरों को रोजगार से दूर करता है। भाजपा सरकार और उसके द्वारा उठाये गये क़दम मज़दूरों का ख़ून निचोड़कर सिक्के में ढ़ालने का भरपूर मौक़ा मालिकों और ठेकेदारों को दे रही है। पूँजीपतियों को मज़दूरों का अभिभावक बताकर मोदी सरकार पूँजीपतियों और मज़दूरों के बीच विवादों को निपटाने के लिए बने क़ानूनों को भी ख़त्म कर रही है। ऐसे में सबका साथ, सबका विकास और सबका विश्वास का नारा सौ करोड़ मेहनतकश लोगों के लिए झूठ और फ़रेब के अलावा कुछ भी नहीं है।

## नागरिकता संशोधन क़ानून का बवाना जे.जे. कॉलोनी के ग़रीब मेहनतकशों की ज़िन्दगी पर असर!

मोदी सरकार अपनी फ़ासीवादी नीति को विस्तारित करते हुए जो एनआरसी और सीएए क़ानून लेकर आयी है, उसके परिणाम मेहनतकश आबादी के लिए भयानक होंगे। इसी वजह से आज ख़ासतौर पर अल्पसंख्यक समुदाय में डर का माहौल है।

बवाना जे.जे. कॉलोनी दिल्ली के उत्तर-पश्चिमी इलाक़े के बाहरी छोर पर स्थित है। बवाना जे.जे. कॉलोनी बवाना औद्योगिक क्षेत्र के निकट है जिस वजह से एक बड़ी मज़दूर-मेहनतकश आबादी यहाँ रहती है, जो बवाना के कारख़ानों में अपनी श्रम शक्ति बेचती है। यह एक मुस्लिम बहुल इलाक़ा है। यहाँ पर रहते हैं फूल मोहम्मद और जेनेसा। फूल मोहम्मद ऑटो चलाते हैं और जेनेसा बवाना में चप्पल बनाने की फ़ैक्टरी में काम करती हैं। इनको यहाँ बसे क़रीब 20 साल हो गये। तब यह कॉलोनी भी नयी थी। फूल मोहम्मद की झुग्गी दिल्ली के मध्य में स्थित कनॉट प्लेस से तोड़ी गयी थी। यह दिल्ली 1996 के मास्टर प्लान का हिस्सा था, जिसमें दिल्ली को चमकाने के लिए मध्य में स्थित झुग्गियों को तोड़ा गया और झुग्गी के लोगों को एक बाहरी छोर पर फेंक दिया गया और औद्योगिक क्षेत्र भी यहीं बसाया गया। इसी कारण मज़दूरों को योजनाबद्ध रूप से स्थानान्तरित किया गया।

जेनेसा और फूल मोहम्मद के पूरे परिवार में 6 लोग हैं चार बच्चे और दो वे ख़ुद। दो बच्चे अभी छठी और सातवीं में सरकारी स्कूल में पढ़ रहे हैं व बड़ा बेटा भी फ़ैक्टरी में काम करता है। जेनेसा को 8 घण्टे काम करने के एवज में रु. 5000 मिलते हैं और वहीं बड़े बेटे को उतने ही घण्टे काम करने के रु. 8000। फूल मोहम्मद का ऑटो का काम भी मन्दी में चल रहा है और रोज़ाना रु. 300-400 की ही कमाई होती है। इस प्रकार परिवार के सभी सदस्यों के 12-12 घण्टे खटने के बाद घर का ख़र्च बस किसी तरह से चल पा रहा है।

यही हालात बवाना जे.जे. कॉलोनी की अधिकतर आबादी के हैं। बवाना जे.जे. कॉलोनी में सड़कों से लेकर नालियाँ टूटी हुई हैं। पानी के लिए आज भी किल्लत रहती है (वहीं केजरीसाहब कहते हैं कि वे सभी दिल्लीवासियों को रोज़ 700 लीटर पानी मुफ़्त दे रहे हैं।) अस्पताल जाने के लिए भी क़रीब 13 किलोमीटर का रास्ता तय करना पड़ता है। रात-बेरात कोई बीमार हुआ तो उसे लेकर जाने का कोई साधन नहीं मिलता।

जेनेसा और फूल मोहम्मद नागरिकता संशोधन विधेयक के क़ानून बनने के बाद से सहमे हुए थे। उन्हें समझ नहीं आ रहा था कि भारत में पीढ़ियों से रहने के बाद भी उन्हें नागरिक होने का सबूत दिखाना होगा। आनन-फ़ानन में अगले ही दिन वे गाँव को रवाना हो गये ताकि अपने पुराने काग़ज़ात इकट्ठा कर सकें। गाँव जाने के बाद जेनेसा की नौकरी भी छूट गयी और फूल भाई के ऑटो से घर का ख़र्च चलना अब असम्भव प्रतीत होता है।

यह हाल सिर्फ़ जेनेसा-फूल मोहम्मद का नहीं बल्कि पूरी कॉलोनी का है जहाँ डर का माहौल है। कारख़ानों के शोषण को सहते हुए मज़दूर किसी तरह रह रहे थे और अब ऐसे हिटलरशाही क़ानून इनका दोहरा दमन कर रहे हैं। यह दमन मज़दूर वर्ग का दमन होगा। इसे रोकने का विकल्प एक ही है और वह है वर्ग एकजुटता। आज पूँजीवादी व्यवस्था का संकट अपने पालतू कुत्ते यानी फ़ासीवाद की ज़ंजीर को खुला छोड़ चुका है, ठीक इसी कारण से हिटलर का भी उभार हुआ था। पर हिटलर को भी मज़दूर वर्ग ने ही नेस्तनाबूद किया था और आज भी मज़दूर वर्ग ही फ़ासीवादी मोदी सरकार को सबक़ सिखा सकता है।

**– बिगुल संवाददाता**

## शाहाबाद डेयरी में नारकीय हालत में रहते मज़दूर

शाहबाद डेयरी, मज़दूर-मेहनतकश बहुल झुग्गी इलाक़ा है। दिल्ली की तमाम कोठियों को चमकाने वाले घरेलू कामगार भी यहाँ रहते हैं। झुग्गियों में रहने वाली इस मेहनतकश आबादी के हालात पर ग़ौर करें तो यह बात किसी से छिपी नहीं है कि ये लोग एक नारकीय जीवन जीने को मजबूर हैं। आज केन्द्र में सत्तासीन मोदी सरकार हो या दिल्ली में सत्तासीन आम आदमी पार्टी सरकार, इन्होंने हमें ठगने के अलावा कुछ नहीं किया है।

लम्बे समय से यहाँ रहने वाली आबादी को साफ़ पानी की कमी, गन्दे नाले, टूटी-फूटी सड़कों की भीषण समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। साफ़ पानी न मिलने और लबालब भरे नालों की वजह से लोग यहाँ लगातार बीमार पड़ते रहते हैं और आये दिन मलेरिया-टायफ़ाइड जैसी बीमारियों इन्हें धर दबोचती हैं। ख़ासतौर पर बरसात में दिक़्क़त और भी बढ़ जाती है। समस्या इतनी विकराल है कि प्रदूषित पानी की वजह से बच्चों समेत कई लोगों की मौत हो चुकी है।

### झुग्गियों के हालात पर एक नज़र :

पूरे इलाक़े में पार्क के नाम पर एक धूलभरा मैदान है जिसमें न तो झूले हैं और न ही पेड़ पौधे, घास या बैठने के लिए बेंच।

इलाक़े की आबादी लगभग एक लाख है लेकिन यहाँ एक डिस्पेंसरी तक नहीं है। हालाँकि मोहल्ला क्लिनिक के नाम पर केजरीवाल सरकार ने अपनी पीठ ख़ूब थपथपायी है, लेकिन असलियत आपको शाहबाद डेयरी जैसे झुग्गी इलाक़े में आकर पता चलेगी जहाँ लोग इलाज कराने दूर अम्बेडकर अस्पताल या महर्षि बाल्मीकि अस्पताल जाते हैं जहाँ लम्बी लाइनों में घण्टों धक्के खाने और स्टाफ़ व डॉक्टरों की बदतमीज़ी सहने के बाद काम चलाने भर की ही दवा मिल पाती है।

राज्य सरकार हो या केन्द्र सरकार दोनों ही ने न तो मज़दूरों को रहने के लिए पक्के मकान दिये, न कोई सुविधा। उल्टे, समय-समय पर मज़दूरों की झुग्गियों को अनाधिकृत बताकर तोड़ा जाता रहा है।

केजरीवाल सरकार, शिक्षा की 'प्रगति' के नाम पर भी देश-विदेश में ख़ूब डींगें हाँक रही है लेकिन आप जैसे ही शाहबाद डेयरी जैसे इलाक़ों की ओर रुख़ करते हैं इनकी पोल यहाँ भी खुल जाती है। शाहबाद डेयरी के 8000 बच्चे निकट के इलाक़े प्रहलादपुर पढ़ाई के लिए जाते हैं जहाँ न तो शिक्षक हैं, न ही बच्चों पर कोई ध्यान दिया जाता है, न ही कोई सुविधा है। दिल्ली के मध्यवर्गीय इलाक़ों में कुछ स्कूलों की चमचमाती बिल्डिंगे बनाकर केजरीवाल सरकार वाहवाही लूट रही है जबकि मज़दूरों के बच्चों के शिक्षा के हालात आज भी वहीं के वहीं हैं। यहाँ भी सरकार की वर्ग पक्षधरता साफ़ दिखायी देती है।

बच्चों के गुमशुदा होने के मामले में भी शाहबाद डेयरी अग्रणी स्थान रखता है। क्योंकि यहाँ मज़दूरों और ग़रीबों के बच्चे रहते हैं इसलिए इनकी गुमशुदगी पर पुलिस कोई कार्रवाई नहीं करती। अपराध का भी यहाँ ज़बर्दस्त बोलबाला है। आये दिन लोगों से छीना-झपटी होती रहती है। हर झुग्गी इलाक़े की तरह यहाँ भी नशाखोरी की विकराल समस्या है।

सुविधा के नाम पर इलाक़े में दो-तीन गन्दे शौचालय हैं, सामुदायिक केन्द्र के नाम पर एक जर्जर पड़ी बिल्डिंग है। न तो खेलकूद के लिए कोई पार्क या स्टेडियम है, और न ही पठन-पाठन के लिए कोई पुस्तकालय ही है।

हर पाँच साल में भाजपा, आम-आदमी पार्टी, कांग्रेस आदि चुनावबाज़ पार्टियों से विधायक-सांसद चुनकर आते हैं। पिछले तीन साल से आम आदमी पार्टी से विधायक रामचन्द्र इस इलाक़े में हैं, लेकिन समस्याएँ ज्यों की त्यों हैं। जब भी लोग इन "जन-प्रतिनिधियों [या धन-प्रतिनिधियों!]" के पास अपनी समस्याएँ लेकर पहुँचे हैं तो ये हमेशा हमारी आँखों में धूल ही झोंकते हैं।

शाहबाद डेयरी से सटा इलाक़ा रोहिणी है जिसमें हर प्रकार की सुविधा है, चमचमाती सड़कें, साफ़-सुथरी और ढँकी नालियाँ, पीने के साफ़ पानी इत्यादि की बेहतरीन सुविधा है। फिर शाहबाद डेयरी में ये समस्याएँ ज्यों की त्यों क्यों हैं? क्या यह ग़ैर-बराबरी नहीं है?

ये सरकारें चाहे वो केन्द्र में हों या राज्य में, हम मज़दूरों के लिए बहरी, अन्धी और गूँगी हैं। इन्हें हमारी दुख-परेशानियों से कुछ लेना देना नहीं है। अगर ये हमें याद करते हैं तो सिर्फ़ चुनाव के समय। जल्दी ही चुनाव होने वाले हैं और तब तमाम पूँजीपतियों की पार्टियाँ हमारे बीच वोट माँगने के लिए आयेंगी। उनसे बस यह सवाल पूछना है कि अभी तक हमारे इलाक़े की समस्याओं का समाधान क्यों नहीं किया?

## होण्डा मानेसर के ठेका मज़दूरों का संघर्ष जारी

(पेज 3 से आगे)

कमज़ोर करने के मक़सद से कई तरह की बातें फैला रहा है। मज़दूरों को क्लियरेंस लेकर दुबारा नयी ज्वाइनिंग करने की बात कर रहा है। प्रबन्धन कभी नोटिस के ज़रिये प्रतिवर्ष रु. 15000 सालाना के अनुसार मुआवज़े के रूप में चुकता हिसाब देने की पेशकश कर रहा है तो कभी उसके बाद ठेकेदारों के ज़रिये फ़ोन पर प्रतिवर्ष रु. 35000 मुआवज़े की पेशकश कर रहा है। मज़दूरों के ऊपर दबाव बनाने के मक़सद से उनके घर पर पत्र भेज रहा है जिसमें मज़दूरों के घरवालों से कहा जा रहा है कि वे मज़दूरों को धरने से वापस घर बुला लें और ऑफ़िस में सम्पर्क कर अपना पूरा चुकता हिसाब प्राप्त करने को कहें! इन हास्यास्पद हथकण्डों व पेशकशों को मज़दूरों ने ठुकरा दिया है। मज़दूरों की मुख्य माँग है कि निकाले जा रहे मज़दूरों को काम पर लिया जाये और कॉण्ट्रैक्ट, कैज़ुअल आदि श्रेणियों को ख़त्म कर उन्हें स्थाई मज़दूर का दर्जा दिया जाये, या फिर न्यूनतम एक लाख रुपये सालाना की दर से उनका हिसाब किया जाये।

होण्डा मोटरसाइकिल ऐण्ड स्कूटर्स इण्डिया, मानेसर के संघर्षरत मज़दूर लम्बे समय से कम्पनी में कार्यरत हैं। बहुतों को तो यहाँ दस साल से भी ज़्यादा का अनुभव है। पहले हर साल 50 मज़दूरों को वरिष्ठता के आधार पर और 50 मज़दूरों को परीक्षा और अनुभव के आधार पर स्थाई किया जाता था। किन्तु परीक्षा पिछले चार साल से बन्द है और वरिष्ठता के आधार पर भी साल 2019 में एक भी मज़दूर को स्थाई नहीं किया गया। मज़दूरों ने अस्थाई मज़दूरों को स्थाई मज़दूर का दर्जा दिलाने का अधिकार भी संघर्ष लड़कर ही हासिल किया था।

होण्डा के जुझारू मज़दूरों के संघर्ष का अपना इतिहास रहा है। 2005 में मज़दूरों ने लड़कर आईएमटी मानेसर में मज़दूरों की पहली यूनियन बनायी थी। इसके लिए मज़दूरों ने कई तरह की परेशानियाँ झेलीं और लाठियाँ तक खाईं। होण्डा मज़दूरों के 2005 के संघर्ष ने कई कारख़ानों के मज़दूरों को यूनियन बनाने के अपने संवैधानिक अधिकार को इस्तेमाल करने की प्रेरणा दी थी। उस संघर्ष में जीत की मुख्य कुंजी स्थाई और अस्थाई मज़दूरों की आपसी एकता थी। किन्तु, आज की सच्चाई यह है स्थाई और अस्थाई मज़दूरों के वेतन के बीच कई गुना का अन्तर है। साथ ही उत्पादन का अधिकांश भार अस्थाई मज़दूरों के ऊपर आ गया है। होण्डा प्रबन्धन ने यह हथकण्डा किसी "नेक" भावना के तहत नहीं बल्कि "फूट डालो और राज करो" की नीति के तहत अपनाया है। कारख़ाना प्रबन्धन मज़दूरों की जुझारू एकता को कुन्द करने के मक़सद से स्थाई और अस्थाई मज़दूरों के बीच दीवार खड़ी करने का प्रयास करता है, उसके बाद बारी-बारी से मज़दूरों पर हमला करता है। आज पूरे ऑटोमोबाइल सेक्टर में मालिकान ठेका मज़दूरों के साथ-साथ स्थाई मज़दूरों के प्रति भी हमलावर है। कम्पनी हर कारख़ाने में यूनियन को कमज़ोर करने, स्थाई मज़दूरों की संख्या कम करने की ताक में लगी रहती है। आज होण्डा के मज़दूरों को फिर से अपनी एकजुटता स्थापित कर इस संघर्ष को आगे बढ़ाना होगा।

### आगे का रास्ता

ऑटोमोबाइल सेक्टर में पिछले कई महीने में हर जगह मज़दूरों की बेहिसाब छँटनी की जा रही है। हर कारख़ाने से मज़दूर निकाले जा रहे हैं, उनमें से कुछ संघर्ष कर रहे हैं तो कई छँटनी को नियति मानकर कहीं और काम की तलाश में लग जा रहे हैं। ऑटोमोबाइल सेक्टर में जारी मन्दी का सबसे ज़्यादा शिकार अस्थाई ठेका मज़दूर हैं। डेंसो, शिरॉकी टेक्निको, एनएसके स्टीयरिंग, कन्साई नेरॉलेक, आदि कई कारख़ाने हैं जहाँ से ठेका मज़दूरों को काम से निकाला जा रहा है। होण्डा के मज़दूरों का यह संघर्ष मूल रूप से ठेकेदारी प्रथा के ख़िलाफ़ है। इसलिए इस संघर्ष को ठेकेदारी प्रथा के जुए के नीचे पिस रहे तमाम मज़दूरों को अपने संघर्ष से जोड़ना होगा। इसे कारख़ाने की चौहद्दी से विस्तारित कर पूरे सेक्टर में फैलाना होगा। ठेकेदारी प्रथा के साथ-साथ हर कारख़ाने के मज़दूरों की अन्य समस्याएँ कमोबेश एक-सी हैं, मुद्दे, माँगें और सामने शत्रु भी एक है, इसलिए संघर्ष को भी एक हो जाने की ज़रूरत है। समझौता पत्रों और श्रम क़ानूनों के उल्लघंन के मुद्दे पूरी औद्योगिक पट्टी में बढ़ते जा रहे हैं। बावल की कन्साई नेरॉलेक पेंट्स, मानेसर की होण्डा मेटरसाइकल ऐण्ड स्कूटर इण्डिया, मुंजाल शोवा, नपीनो ऑटो, कपारो मरूति समेत गुड़गाँव की मुंजाल शोवा, आदि कम्पनियों के मुद्दे एक जैसे हैं। साथ ही आर्कोटेक बावल, रॉकमैन बावल, आरजीपी बिनौला, मेट्रोआर्टम सिधरावली आदि कम्पनियों में मज़दूरों के विवाद चल रहे हैं।

**– अनन्त वत्स**

# अनाज मण्डी अग्नि-काण्ड में 43 मज़दूरों की मौत!

# ये मुनाफ़े के लिए की गयी ठण्डी हत्याएँ हैं!

**दिल्ली सरकार, केन्द्र सरकार और नगर निगम और ये पूरा पूँजीवादी निज़ाम इन हत्याओं के लिए ज़िम्मेदार है।**

रानी झाँसी रोड स्थित मॉडल बस्ती के अनाज मण्डी इलाक़े में आग लगने से सरकारी रपट के अनुसार 43 मज़दूरों की मौत हो गयी, परन्तु असल में इस अग्निकाण्ड में मरने वाले मज़दूरों की संख्या इससे कहीं ज़्यादा है। बहुत से मज़दूर अब भी अस्पताल में हैं। 8 जनवरी की सुबह 5 बजे अनाज मण्डी की सँकरी गली में चार मंज़िला बिल्डिंग में प्लास्टिक की फ़ैक्टरी से लगी आग पूरी इमारत में फैल गयी। आग बुझाने के लिए दमकल गाड़ियाँ क़रीब 2 घण्टे देरी से पहुँची, जबकि रानी झाँसी रोड का अग्निशमन विभाग घटनास्थल से महज़ 400 मीटर दूर है। इमारत की ऊपरी मंज़िलों में जो फ़ैक्टरियाँ थीं वहाँ बैग बनाने, खिलौने बनाने व पैकिंग सरीखे काम होते थे। आग पूरी इमारत में फैल गयी। रविवार के दिन चूँकि इलाक़े में छुट्टी होती है, इसलिए मज़दूर आराम से सोये थे।

शार्ट सर्किट से शुरू हुई आग प्लास्टिक के दानों से (जो प्लास्टिक के अधिकतर उत्पादों का कच्चा माल होते हैं) पूरी इमारत में फैल गयी। इमारत की हर मंज़िल पर प्लास्टिक उत्पाद का काम होने के कारण आग फैल गयी। फ़ैक्टरी से मज़दूरों के बाहर निकलने का गेट महज़ 2 फ़ीट चौड़ा था जिस पर बाहर से ताला लगा हुआ था। यहाँ आग लगने पर मज़दूरों की मौत होना तय था। फ़ैक्टरियों में 15-16 साल के किशोर भी काम करते थे, परन्तु लाशों को बोरों में भरकर लाया गया जिसके कारण जलकर मरने वालों की उम्र का और संख्या का अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता है। कई मज़दूर दम घुटने से मरे हैं।

ग़ौरतलब है कि पिछली 8 जनवरी को भी घटनास्थल से 150 मीटर दूर मॉडल बस्ती की फ़ैक्टरी में आग लगी थी जिसमें मज़दूर जलने से बच गये थे। 2 महीने पहले भी आज जिस फ़ैक्टरी में आग लगी उसी के बगल में आग लगने से 2-3 मज़दूरों की मौत हुई थी। पूरे इलाक़े में बिजली के तार पुराने खण्डहर में लगे मकड़ी के जालों की तरह सड़कों पर खम्भों के बीच झूलते रहते हैं। इस इलाक़े में मज़दूर 300-400 रुपये में काम करते हैं, परन्तु इन सबके ऊपर मौत का साया हर हमेशा लटकता रहता है। मालिक मुनाफ़े की हवस में कोई श्रम क़ानून लागू नहीं करते हैं। न न्यूनतम वेतन मिलता है, न ईएसआई पीएफ़ और न ही फ़ैक्टरियों में सुरक्षा के इन्तज़ाम हैं। फ़ैक्टरियों में कई बच्चे भी काम करते हैं। मज़दूरों के अनुसार इसके लिए पुलिस फ़ैक्टरी मालिकों से हर महीने 500 रुपये प्रति बच्चा वसूलती है।

हर साल इन फ़ैक्टरियों में गुमनाम तरीक़े से मज़दूर मारे जाते हैं परन्तु इस पर कोई बवाल नहीं होता है। ये मौतें ठण्डी मौतें हैं जिनका हिसाब अनाज मण्डी के मालिक भी लगाकर रखते हैं। इन मौतों की क़ीमत श्रम विभाग के कर्मचारियों, पुलिस, बिजली विभाग, अग्निशमन विभाग और लाइसेंस देने वाली म्युनिस्पेलिटी को पहले ही अदा की जा चुकी होती है। श्रम विभाग द्वारा इन फ़ैक्टरियों की कोई जाँच नहीं होती है। 10 लाख के मुआवज़े की घोषणा कर केजरीवाल इस बात को छिपा नहीं सकता कि दिल्ली सरकार ही इन हत्याओं के लिए मुख्य रूप से ज़िम्मेदार है जिसका श्रम मंत्रालय श्रम क़ानूनों का उल्लंघन करने पर मालिकों की पीठ में खुजली तक नहीं करता है। श्रम विभाग की बात करें तो कैग की रिपोर्ट इनकी हक़ीक़त सामने ला देती है। इस रिपोर्ट के अनुसार दिल्ली सरकार के विभागों द्वारा कारख़ाना अधिनियम, 1948 का भी पालन नहीं किया जा रहा है – वर्ष 2011 से लेकर 2015 के बीच केवल 11-25% पंजीकृत कारख़ानों का निरीक्षण किया गया।

दिल्ली सरकार ने इस साल श्रम क़ानूनों का उल्लंघन करने वाली फ़ैक्टरियों की जाँच का अभियान चलाया और कहा कि पूरी दिल्ली में केवल 160 आर्थिक इकाइयाँ हैं जहाँ श्रम क़ानूनों का उल्लंघन होता है। यह कोरा झूठ है क्योंकि दिल्ली के आर्थिक सर्वेक्षण के अनुसार दिल्ली में क़रीब 7 लाख आर्थिक इकाइयाँ हैं जिनमें छोटी दुकान से लेकर बड़ी फ़ैक्टरी शामिल हैं जिनमें कार्यरत 98 प्रतिशत से ज़्यादा मज़दूरों को श्रम क़ानूनों के तहत कोई सुविधा नहीं मिलती है। ख़ुद सरकार के अस्पतालों में कार्यरत ठेका मज़दूरों को श्रम क़ानूनों के अनुसार भुगतान नहीं होता है। परन्तु दिल्ली सरकार के बेशर्म श्रम मंत्री गोपाल राय और मुख्यमंत्री केजरीवाल झूठ बोलते रहे हैं। अनाज मण्डी का इलाक़ा 'मिक्स्ड यूज़्ड लैण्ड' के तहत आता है जिसमें व्यवसायिक गतिविधियाँ केवल भूतल पर ही की जा सकती हैं। प्लास्टिक से लेकर जिन उद्योगों के यहाँ काम हो रहे हैं वे तो क़ानूनी तौर पर भूतल पर भी नहीं किये जा सकते हैं। परन्तु पुलिस, नगर निगम, श्रम विभाग से लेकर बिजली विभाग और अग्निशमन विभाग सभी मिले हुए हैं। पूरे क़ानूनी तंत्र में मालिकों को घपला-घोटाला करने में कोई समस्या नहीं होती है, परन्तु मज़दूर के लिए बने क़ानून लागू नहीं हो सकते हैं। यही पूँजीवादी क़ानून व्यवस्था और उसके नौकरशाही तंत्र का असली चेहरा है। इस घटना के बाद से छोटे मालिकों ने मकानों से अपनी मशीनें और कच्चा माल स्थानान्तरित करना शुरू कर दिया है। जिस फ़ैक्टरी में आग लगी उसके मालिक को गिरफ़्तार कर लिया गया है, परन्तु इस घटना के मुख्य आरोपी वे मकान मालिक हैं जिनकी शह पर यहाँ काम चलता है और तमाम विभागों के वे कर्मचारी हैं जिनकी वजह से ये मौतें हुई हैं।

मोदी और अमित शाह ने इस घटना पर घड़ियाली आँसू बहाये हैं जिससे कि आगामी चुनाव की तैयारी की जा सके, परन्तु इन नरभक्षी फ़ासीवादियों ने ही संसद में श्रम क़ानूनों को ख़त्म करने का काम किया है जिससे भविष्य में इस तरह की घटनाओं को बिना क़ानूनी पचड़े के अंजाम दिया जा सके। इस सरकार ने श्रम सुधार के नाम पर 44 श्रम क़ानूनों को बदलकर 4 श्रम संहिताओं को लाने का फ़ैसला किया है। निश्चित ही जो श्रम क़ानून पहले मौजूद थे वे भी सिर्फ़ काग़ज़ों की ही शोभा बढ़ा रहे थे। देश के 93 फ़ीसदी असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों के लिए ये श्रम क़ानून लागू नहीं होते थे, लेकिन जब कभी भी कहीं मज़दूर अपने क़ानूनी हक़ के लिए संघर्ष करता था तो मजबूरन पूँजीपतियों और सरकारों को उसे लागू करवाना पड़ता था। लेकिन अब मोदी-शाह की फ़ासीवादी मज़दूर-विरोधी सरकार ने ऐसे क़ानूनों को ही ख़त्म करने का फ़ैसला कर लिया है। मतलब, न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी! अब फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर द्वारा फ़ैक्टरियों का निरीक्षण करना बाध्यताकारी नहीं रह जायेगा। अब सिर्फ़ मालिक यह कह दें कि उनकी फ़ैक्टरी में 10 से कम मज़दूर काम करते हैं और फ़ैक्टरी में सबकुछ ठीक है तो उसकी बात मान ली जायेगी। अब कभी भी किसी भी मज़दूर को बिना वजह बताये काम से बाहर निकाला जा सकेगा और इसके ख़िलाफ़ श्रम विभाग में शिकायत भी नहीं की जा सकेगी।

इसके अलावा सरकार ने यूनियन बनाने के क़ानून को भी बेहद मुश्किल बना दिया है, अब व्यावहारिक तौर पर यूनियन बनाना असम्भव हो जायेगा। हाल ही में सरकार ने औद्योगिक विवाद निपटारा क़ानून को भी ख़त्म करने के लिए विधेयक पारित किया है। हड़ताल

(पेज 6 पर जारी)

## 'मैं बड़े ब्रांडों के लिए बैग सिलता हूँ पर मुश्किल से पेट भरने लायक़ कमा पाता हूँ' – अनाज मण्डी की जली फ़ैक्टरी में 10 साल तक काम करने वाले दर्ज़ी की दास्तान

**दिल्ली के अवैध कारख़ाने की आग ने पाँच बच्चों सहित 43 मज़दूरों की ज़िन्दगी लील ली, मगर हज़ारों मज़दूर आज भी वैसे ही ख़तरनाक हालात में काम करने और जीने को मजबूर हैं**

**– अनुमेहा यादव**

सोमवार (9 दिसम्बर) को अनाज मण्डी की ओर जाने वाले मेहराबदार दरवाज़े के नीचे टीवी पत्रकार और कैमरामेन बेहतर जगह के लिए धक्कामुक्की कर रहे थे। यह जगह दिल्ली की सबसे बड़ी थोक मण्डी, सदर बाज़ार से कुछ सौ मीटर की दूरी पर है।

मेहराबदार दरवाज़े के नीचे एक सँकरी, अँधेरी गली गुज़रती है जिसके दोनों तरफ़ एक-दूसरे से सटी इमारतों की क़तार है। ज़िला मजिस्ट्रेट के दफ़्तर की ओर से गली के मुहाने पर एक आपदा प्रबन्धन डेस्क लगायी गयी है जिस पर तीन पुलिसवाले तैनात थे। पुलिस ने आवाजाही रोकने के लिए लोहे के बैरीकेड और सफ़ेद-पीले बैरियर टेप लगा रखे थे, मगर टेप उठाकर कोई भी गली में जा सकता था।

गली में कालिख लगी गुलाबी दीवारों वाली एक इमारत के बाहर लोगों की भीड़ जमा थी। पिछले दिन, भोर में यहाँ आग लगी थी जिसने इमारत में सो रहे 100 से ज़्यादा मज़दूरों को अपनी चपेट में ले लिया था। बच्चों सहित 43 मज़दूरों की दम घुटने से मौत हो गयी जबकि 60 बुरी तरह घायल हुए। यह पिछले एक दशक के दौरान दिल्ली के सबसे विनाशकारी अग्निकाण्डों में से एक था। जिस इमारत में यह हुआ वहाँ एक कारख़ाना चल रहा था। सरकारी अधिकारियों के मुताबिक़ कारख़ाने के पास न तो मैन्युफ़ैक्चरिंग परमिट था और न ही दमकल विभाग से सुरक्षा का सर्टिफ़िकेट। यानी, यह भी दिल्ली में चल रहे हज़ारों ग़ैर-क़ानूनी कारख़ानों जैसा ही था।

सोमवार की सुबह, स्वेटर और जीन्स पहने एक गंजा-सा व्यक्ति, जिसकी आँखें कम सोने के कारण सूजी हुई थीं, पास के मदरसे से आये किसी शख़्स को इलाक़े के बारे में बता रहा था, "बिहारी एक साथ रहते हैं। जैसे ही किसी को यहाँ टिकने की जगह मिलती है, वे अपने पूरे गाँव को यहाँ ले आकर बसा देते हैं।"

### 'खाने के लिए पैसे नहीं हैं'

दूसरे स्थानीय निवासी और इलाक़े के कारख़ाना मालिक उसकी बात पर सहमति में सिर हिला रहे थे। गली में थोड़ी दूरी पर 2-2, 4-4 के समूहों में खड़े कुछ नौजवान चुपचाप देख रहे थे।

प्रकाश दास उन्हीं में से एक था। वह और बीजू मण्डल (28 साल) धुँधली आँखों से भीड़ को देख रहे थे, वे थके और चकराये हुए से लग रहे थे। दोनों ही जली हुई इमारत के बगल में बैग बनाने के एक कारख़ाने में काम करते थे। शनिवार की रात से दोनों ने खाना नहीं खाया था, पिछले 42 घण्टे से वे भूखे थे। "पिछले हफ़्ते का हमारा 1500 रुपये का पेमेंट इतवार को मिलने वाला था। लेकिन आग लगने के बाद हमारा मालिक भी कहीं चला गया है। हमारे पास खाने के लिए भी पैसे नहीं बचे हैं।" प्रकाश ने कहा जिसकी उम्र 33 साल थी मगर देखने में छोटा लग रहा था।

वह हिचकिचाते हुए बोल रहा था और बार-बार कनखियों से देख रहा था कि कोई मालिक या लोकल उसकी बात तो नहीं सुन रहा। गली में जहाँ वह खड़ा था उसके ऊपर बिजली के उलझे हुए तार लटके हुए थे। बड़े-बड़े चूहे इधर-उधर दौड़ रहे थे और कोने में जमा कूड़े को कुतर रहे थे।

दास ने अनाज मण्डी से बाहर की ओर चलते हुए कहा, "तीन महीने पहले, एक लोकल का एक बिहारी मज़दूर से झगड़ा हो गया था तो उसने मज़दूर की पिटाई कर दी थी। अगर अभी उनमें से कोई मुझे थप्पड़ मार दे तो मैं क्या कर पाऊंगा?"

रविवार की सुबह मरने वाले बहुत से मज़दूरों की तरह, दास 14 साल की उम्र में बिहार के दरभंगा ज़िले से दिल्ली आया था। उसका गाँव वाजिदपुर नेपाल की सीमा से 80 कि.मी. दूर है। उसकी अब तक की लगभग सारी ज़िन्दगी इस गली में चलने वाले छोटे कारख़ानों और वर्कशॉपों के भीतर गुज़री है जिनमें हर समय धुँधली रोशनी होती है और हवा आने-जाने के रास्ते बहुत कम हैं। आग की चपेट में आये मज़दूरों की तरह उसने भी जले हुए कारख़ाने में 10 साल तक बैग सिलने का काम किया था।

दास को हर बैग की सिलाई के लिए 30 रुपये मिलते थे। उसका कहना है कि वह रोज़ 50 बैग तक सिल सकता था लेकिन अक्सर पूरे हफ़्ते भर के ऑर्डर

(पेज 6 पर जारी)

# अनाज मण्डी अग्नि-काण्ड में 43 मज़दूरों की मौत!

(पेज 5 से आगे)

करने को भी ग़ैर क़ानूनी बनाया गया है। अनाज मण्डी के हत्याकाण्ड की इन मौतों के लिए मोदी सरकार भी ज़िम्मेदार है। मज़दूरों के बचे-खुचे क़ानूनों को भी ख़त्म कर फ़ासीवादी मोदी सरकार मज़दूरों को डण्डे की नोक पर काम कराना चाहती है।

इन सभी फ़ैक्टरियों के मालिक तमाम चुनावबाज़ पार्टियों से जुड़े हैं। अनाज मण्डी की अधिकतम फ़ैक्टरियों का मकान मालिक भाजपा नेता इमरान इस्माईल है जिसकी बीवी पिछली बार भाजपा निगम पार्षद थी और इमरान इस्माईल का बाप भाजपा का बड़ा नेता था जिसके नाम से इलाक़े के बाज़ार की गली भी है। इमरान इस्माईल के मकानों में उसके रिश्तेदारों की फ़ैक्टरियाँ हैं और

मज़दूरों की सुरक्षा की माँग को लेकर दिल्ली सचिवालय पर बिगुल मज़दूर दस्ता और यूनियनों का प्रदर्शन

ज़्यादातर लोग उसकी देखरेख में ही यहाँ फ़ैक्टरियाँ चलाते हैं। इन हत्याओं का सौदागर इमरान इस्माईल ही है। घटना के दिन बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं की इमरान इस्माईल के गुर्गों से झड़प भी हुई क्योंकि वे मज़दूरों और पत्रकारों को घटनास्थल पर नहीं जाने दे रहे थे। अधिकतर मज़दूर उसके सामने कुछ भी बोलने से घबराते हैं। यही हाल अन्य चुनावबाज़ पार्टियों के नेताओं का है। उन्हें भी इमरान इस्माईल की तरह ही मॉडल बस्ती में मालिकों से समर्थन प्राप्त है। मीडिया में आकर सबसे पहले इमरान इस्माईल और अन्य दलाल ही मज़दूरों की जान जाने पर घड़ियाली आँसू बहा रहे थे और बाक़ायदा जाँच की माँग कर रहे थे!

ज़ाहिर है कि पुलिस से लेकर तमाम विभाग इन मौत के कारख़ानों पर कार्रवाई नहीं करेंगे। 2018 में बवाना में 17 मज़दूर जलकर मरे थे, 2011 में पीरागढ़ी में भी 11 मज़दूर जलकर मरे थे और 2008 में चप्पल की फ़ैक्टरी में पीरागढ़ी में अनेक मज़दूर मरे थे। 2017-18 में बवाना में आगज़नी की 465 घटनाएँ हुईं और नरेला में इसी दौरान क़रीब 600 से अधिक कारख़ानों में आग लगी। अगर इन मौतों को रोकना है तो दिल्ली के 29 औद्योगिक क्षेत्रों के मज़दूरों से लेकर दिल्ली में फैले मज़दूरों को सड़कों पर उतरना होगा। इस मुद्दे पर जब तक मज़दूर वर्ग पूँजीपति वर्ग की सरकारों को झुकाता नहीं है, ये हत्याएँ बदस्तूर जारी रहेंगी। यह वर्ग युद्ध है जहाँ मुनाफ़े की हवस में मालिक मज़दूरों को यूँ ही आग में झोंककर मुनाफ़ा कमाते हैं। इसका जवाब मज़दूर वर्ग के एकजुट होकर इस व्यवस्था के ख़ात्मे की लड़ाई से होकर जाता है। इस लड़ाई के पहले क़दम के तौर पर मज़दूरों को फ़ैक्टरियों में सुरक्षा के पुख़्ता इन्तज़ाम के लिए संघर्ष छेड़ देना होगा!

# अनाज मण्डी की जली फ़ैक्टरी में 10 साल तक काम करने वाले दर्ज़ी की दास्तान

(पेज 5 से आगे)

सिर्फ़ 50 बैग ही होते थे। वह औसतन महीने में 6000 रुपये कमाता था। उसी बिल्डिंग में रहकर वह किराये का ख़र्च बचा लेता था लेकिन अब वहाँ बहुत भीड़ हो गयी थी क्योंकि हर मंज़िल पर क़रीब 30 मज़दूर रहते थे। इसलिए दास और उसका भाई मई में दूसरी बिल्डिंग में चले गये थे। उन्होंने पैसे बचाकर बिजली से चलने वाली एक सिलाई मशीन भी ख़रीद ली थी। लेकिन अब हर हफ़्ते किराये के 500 रुपये और दिन में दो बार खाने पर 100 रुपये ख़र्च करने के बाद उसके पास शायद ही कभी कुछ बच पाता था। पैसे बचाने के लिए उसने सुबह का नाश्ता करना छोड़ दिया था।

दास जैसे मज़दूर अब जल चुके कारख़ाने में पिछले दो साल से कई बड़े कॉरपोरेट ब्राण्ड और सरकारी ठेकेदारों के लिए पिट्ठू बैग सिलने का काम कर रहे थे। वह बताता है, "एअरटेल और वोडाफ़ोन अपने स्टाफ़ को और ज़ोमैटो अपने डिलीवरी वाले लड़कों को जो बैग देते हैं वह हम यहाँ सिलते थे। हम वे बैग भी सिलते थे जिनको सरकारें और कम्पनियाँ प्रोग्रामों में बाँटती हैं। इस समय, मैं बैगों के एक बड़े ऑर्डर की सिलाई कर रहा था जिन पर हम 'झारखण्ड सरकार' का लेबल लगाते थे। उससे पहले, हमने उत्तर प्रदेश सरकार के लिए और जयललिता के लेबल वाले बैग बनाये थे और बर्तन कम्पनियों के लिए टिफ़िन बैग भी बनाये थे।"

### 'हवा ज़हर जैसी लगती है'

दास का कहना है कि चाहे जितना भी ऑर्डर हो, चाहे जितना भी कम या ज़्यादा काम हो, इतवार छोड़कर मज़दूरों को सुबह 10 बजे से रात 8 बजे तक मशीनों पर रहना पड़ता था।

कई बच्चे भी उनके साथ काम करते थे। दास बताता है, "मालिक आम तौर पर हर दो मशीनों के बाद एक बच्चे को लगा देता था। मुझे बच्चों के बारे में सोचकर और भी ख़राब लग रहा है।" ख़ुद दास ने भी महज़ 14 साल की उम्र में पास के पहाड़गंज में ऐसे ही कारख़ानों में दर्ज़ी का काम शुरू कर दिया था।

वह बताता है कि काम के दौरान मज़दूरों को अक्सर ही चोट लग जाती है। बच्चों को भी। वह अपना बायाँ अँगूठा दिखाता है जिसके आर-पार मशीन की सुई चली गयी थी। वह कहता है, "जब सुई धँसती है तो इतना दर्द होता है कि चक्कर आने लगता है और लगता है जैसे मेज़ पर ही उल्टी हो जायेगी।"

बच्चे अप्रेण्टिस के तौर पर बैग बनाना सीखते हैं। 9 से 12 महीने तक वे सुबह से रात तक सिलाई मशीनों पर लगे रहते हैं। इस दौरान, मालिक बच्चों द्वारा सिले हर बैग की मज़दूरी में से 5 रुपये बिल्डिंग में रहने के किराये के तौर पर काट लेते हैं। कई साल तक काम कर चुके बालिग मज़दूरों को यह रक़म नहीं चुकानी पड़ती है। आधी रात के बाद, कारीगर अपनी सिलाई मशीनों को एक ओर खिसका देते हैं और पिट्ठू बैग में लगने वाले पॉलिस्टर की चादर को फ़र्श पर बिछाकर सो जाते हैं। जब बिल्डिंग में ज़्यादा लोग हो गये तो कारख़ाना मालिक रेहान ने पाँचों मंज़िलों पर दो-दो शौचालय बना दिये। आग लगने के बाद से वह गिरफ़्तार है।

एक केयरटेकर रोज़ रात को मज़दूरों को बिल्डिंग के अन्दर करके बाहर से ताला बन्द कर देता था जिससे ऊपर की मंज़िलों से आने की सीढ़ियाँ आधी रात से लेकर सुबह 6 बजे तक बन्द हो जाती थीं। दास ने बताया, "यह रिहायशी इलाक़ा है, इसलिए वे हमें ताले में बन्द कर देते हैं क्योंकि बिहार और यूपी से आने वाले हम जैसे प्रवासी अन्दर बन्द रहेंगे तो यहाँ रहने वालों को सुरक्षित महसूस होगा। अगर कोई इमरजेंसी हो जाये या किसी वर्कर की तबियत बिगड़ जाये तो केयरटेकर को फ़ोन करके बुलाना पड़ता था कि वह चाभी लेकर आये और हमें बाहर निकाले।"

दास और दूसरे मज़दूरों ने बताया कि इतवार की भोर में जब आग भड़की, तो मज़दूर अन्दर बन्द थे और बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं था। बिहार में मधुबनी के रहने वाले अब्दुल कलाम ने कहा, "केयरटेकर ने ग्राउण्ड फ़्लोर और सबसे ऊपर की मंज़िल के दरवाज़े का ताला बन्द कर दिया था। अन्दर फँसे कुछ लोगों को निकलने के लिए ऊपरी मंज़िल की एक खिड़की को काटना पड़ा।" अब्दुल गली की एक दूसरी फ़ैक्टरी में बैग सिलते हैं।

दास ने कहा कि शनिवार की रात को देर से काम ख़त्म करने के बाद सोये हुए उसे चार घण्टे ही हुए थे कि उसका फ़ोन बार-बार बजने लगा। उसने कहा, "हमारी बिल्डिंग का केयरटेकर भी हमको बाहर से बन्द कर देता है। आख़िरकार जब किसी ने हमारी बिल्डिंग का गेट खोला, तो लोकल लोग हम पर चिल्ला रहे थे कि जब तक पुलिस न आये तब तक अन्दर ही रहो।"

दास ने कहा कि सुबह की धुँधली रोशनी में उसने अपनी खिड़की से देखकर गिना कि 56 मज़दूरों को उठाकर एम्बुलेंस में ले जाया गया था। इनमें से कई उसके दोस्त और ऐसे लोग थे जिनके साथ उसने काम किया था। फ़ैक्टरी के ताले खुलने के बाद कुछ लोग बाहर आये जो सिर्फ़ अन्दर के कपड़े पहने हुए थे। हमने उन्हें अपने कपड़े और जूते-चप्पल दिये। "बारह ऐसे लोगों की मौत हो गयी जिनके साथ मैंने बरसों काम किया था। कम से कम बारह और हैं जिनके बारे में मुझे अभी पता नहीं चल पाया है।"

इस हादसे के बाद से उसे घबराहट के दौरे पड़ते रहते हैं। जब भी वह इन घटनाओं को याद करता है या जब भी इलाक़े की किसी फ़ैक्टरी का मालिक उसे बुलाता है, तो उसके दिल की धड़कन तेज़ हो जाती है। वह इस हादसे से उबरने के लिए दरभंगा में अपने घर जाना चाहता है लेकिन यात्रा में कम से कम 1000 रुपये लग जायेंगे और अभी तो उसके पास खाने के पैसे भी नहीं हैं।

वह कहता है, "दिल्ली में मेरी तबियत ख़राब हो जाती है। किसी और जगह मुझे इतनी परेशानी नहीं होती। यहाँ दम घुटता है और हवा ज़हर जैसी लगती है।"

दिनभर दास एक पार्क में बैठकर इन्तज़ार करता रहा। फिर क़रीब 4 बजे उसके साथ ही काम करने वाले उसके भाई प्रमोद का फ़ोन आया कि मालिक ने पिछले हफ़्ते की मज़दूरी 1500 रुपये चुका दी है। फ़ोन पर बात करते समय दास के चेहरे पर राहत दिखायी दी। उसने कहा कि अब वह दो हफ़्ते और यहीं काम करेगा और कुछ पैसे बचाकर तब घर जायेगा।

उसी रात दास के फ़ैक्टरी मालिक ने कहा कि सारी सिलाई मशीनों को हटाकर मॉडल बस्ती की एक बिल्डिंग में ले जाना है। अगली दोपहर अपना सामान एक हरे बैग में भरते हुए दास ने बताया, "रातो-रात अनाज मण्डी से एक-एक सिलाई मशीन हटा दी गयी।"

अनाज मण्डी से निकलकर दास एक ख़स्ताहाल सिनेमा हॉल, फ़िल्मिस्तान के सामने से गुज़रते हुए बायें मुड़कर अनाज मण्डी के पास की एक सड़क पर गया। सड़क के दूसरे सिरे पर वह एक सँकरी गली में मुड़ा और एक इमारत की अँधेरी, सँकरी सीढ़ियों से होते हुए चौथी मंज़िल पर गया। हर फ़्लोर पर 14-18 साल के लड़के और नौजवान बिजली की सिलाई मशीनों पर बैठे पिट्ठू, लैपटॉप बैग और लंचबॉक्स बैग सिल रहे थे।

दास ने अपना पिट्ठू चौथी मंज़िल के एक कमरे में रख दिया। फ़र्श पर चारों ओर सलेटी रंग के पिट्ठू और कपड़े फैले हुए थे और पाँच नौजवान सिलाई मशीनों पर काम में जुटे हुए थे। दास ने बताया, "इस मार्केट में मेरे सबसे पुराने दोस्त, नुरिया ने अभी मेरे लिए एक मशीन का इन्तज़ाम कर दिया है।"

### 'वे बैल की तरह काम करते हैं'

अनाज मण्डी में, कुछ फ़ैक्टरियों और वर्कशॉपों के मालिकों ने इस बात की पुष्टि की कि उन्हें बड़े कॉरपोरेशनों और सरकारी एजेंसियों से बैग बनाने या उन पर लेबल सिलने के ऑर्डर मिलते हैं, लेकिन कम्पनियों या सरकारी एजेंसियों के साथ कोई औपचारिक कॉण्ट्रैक्ट नहीं होता है।

एक युवा मालिक, आमिर इक़बाल ने बताया कि यह सब कैसे होता है, "एअरटेल, वोडाफ़ोन या रिलायंस जैसी कोई बड़ी कम्पनी या कर्नाटक सरकार किसी प्रचारात्मक कार्यक्रम, जैसे मैराथन में बाँटने या ओखला या गुड़गाँव के किसी ऑफ़िस में अपने स्टाफ़ के लिए बैगों का ऑडर देती है। फ़र्ज़ कीजिए कि उन्होंने अपना ऑर्डर रैगरपुरा या करोल बाग़ की किसी फ़र्म को दिया, तो फिर वहाँ से मानकपुरा या शिडीपुरा में या पुरानी दिल्ली के हमारे इलाक़े में किसी बिज़नेसमैन को ऑर्डर मिलता है। अगर शिडीपुरा में किसी व्यापारी को ऑर्डर मिलता है, तो वे हमारे जैसे 10 मालिकों से व्हाट्सऐप पर लागत, मुनाफ़े वगैरह के बारे में पूछते हैं। कभी हमारे बीच कम्पिटीशन होता है तो कभी हम ऑर्डर लेकर आपस में बाँट लेते हैं।" इक़बाल के मुताबिक़, "या फिर वे वज़ीराबाद, सीलमपुर, नबी करीम या दिल्ली में मैन्युफ़ैक्चरिंग के ऐसे ही किसी और इलाक़े में किसी को ऑर्डर दे देते हैं।" इक़बाल की फ़र्म आम तौर पर एक बड़े पिट्ठू बैग, जैसाकि डिलीवरी एजेंट लेकर चलते हैं, पर 50-60 रुपये का मुनाफ़ा कमाती है।

अनाज मण्डी के एक और व्यापारी फ़ैज़ान का कहना है, "चेन पे चेन है। इस प्रोडक्शन में कई लेवल हैं और हम सबसे निचली पायदान पर हैं। फिर हम रोज़ी-रोटी कमाने के लिए 1500 कि.मी. से आये हुए मज़दूरों को काम देते हैं।"

उसने कहा, "आपने कोल्हू का बैल सुना है, जिनकी आँखों पर पट्टी लगा दी जाती है? ये मज़दूर भी ऐसे ही हैं। उन्हें अक्सर यही नहीं पता रहता कि कौन उनको गोल-गोल घुमा रहा है, वे बस काम किये जाते हैं।"

**(पहचान छिपाने के लिए कुछ नामों को बदल दिया गया है)**

**फ़ोटो: अनुमेहा यादव, पहले Newslaundry.com में प्रकाशित**
**अंग्रेज़ी से अनुवाद : मज़दूर बिगुल डेस्क**

# देशभर में होने जा रही 8 जनवरी की आम हड़ताल के प्रति हमारा नज़रिया क्या हो?

**– सनी सिंह**

केन्द्र सरकार की मज़दूर विरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ हर साल की तरह 2020 में भी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों ने 8 जनवरी को एकदिवसीय हड़ताल का आह्वान किया है। ताज्जुब की बात यह है कि साल-दर- साल मज़दूरों पर हमलों की तीव्रता बढ़ाते हुए मोदी सरकार ने इस साल मज़दूरों का न्यूनतम वेतन कम करने का बिल संसद में पारित किया, पीएफ़ पर मालिकों द्वारा दिया जाने वाला फ़ण्ड कम किया, औद्योगिक निपटारा क़ानून को ख़त्म करने, हड़ताल करने को ग़ैरक़ानूनी बना देने का बिल संसद में पारित हुआ, परन्तु इस साल भी ये एक दिन की हड़ताल का ही आह्वान कर रहे हैं, जबकि पिछली बार इन्होंने दो दिन की हड़ताल का आह्वान किया था। आर्थिक मन्दी के नाम पर मोदी सरकार ने एक तरफ़ कॉरपोरेट घरानों को जमकर पैसे दिये हैं, वहीं दूसरी तरफ़ मज़दूरों की छँटनी और तालाबन्दी की घटनाओं में मज़दूरों के संघर्षों पर जमकर लाठियाँ चलवायी हैं। इसके बावजूद केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें महज़ एक दिवसीय रस्मी हड़ताल का आह्वान कर रही हैं।

**क्या इस एकदिवसीय हड़ताल से सरकार किसी बिल को वापस लेगी?** नहीं, ऐसा कुछ नहीं होगा। इस बात की उम्मीद है कि सालाना त्योहार की तरह 8 जनवरी को औद्योगिक क्षेत्रों से लेकर सर्विस सेक्टर व यातायात विभाग में काम प्रभावित रहेगा। पिछले साल केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के ही आकलन के अनुसार कुल मिलाकर 20 करोड़ मज़दूरों ने इस हड़ताल में भागीदारी की। देशभर में मज़दूरों को अपनी ताक़त का एहसास होगा, परन्तु इससे पहले कि इस ताक़त से कुछ ठोस नतीजा निकले, मज़दूरों को वापस फ़ैक्टरियों में जाना होगा और फिर से शोषण की चक्की में पहले की तरह अपना हाड़-माँस गलाना होगा।

तो हम क्या सिर्फ़ इस बात से सन्तोष कर लें कि हड़ताल में इतने मज़दूरों ने भागीदारी की और अपनी ताक़त दिखायी! क्या एक दिन मज़दूरों द्वारा फ़ैक्टरियों के गेट पर लाठी भाँजने से, कुछ जगह मालिकों और दलालों की पिटाई और एक बड़ी रैली निकाल लेने से मज़दूर वर्ग और मालिक वर्ग के बीच संघर्ष में कोई निर्णायक अन्तर आयेगा?

पिछले साल हड़ताल के दौरान कई जगह लाठीचार्ज और गिरफ़्तारियाँ भी हुईं, लेकिन कहीं पर भी केन्द्रीय ट्रेड यूनियन के नेतृत्व ने इन गिरफ़्तारियों या मज़दूरों पर हुए लाठीचार्ज के ख़िलाफ़ इस हड़ताल को आगे बढ़ाने या किसी भी क़िस्म के 'इण्डस्ट्रियल ऐक्शन' का आह्वान नहीं किया था। इससे क्या नतीजा निकलता है? यही कि यह सब इसलिए ही होगा कि मज़दूर एक दिन अपनी भड़ास निकालें और व्यवस्था-विरोधी क़दम न उठायें और दूसरी तरफ़ तमाम केन्द्रीय ट्रेड यूनियन और उनकी आक़ा संसदमार्गी सामाजिक जनवादी पार्टी सुरक्षा पंक्ति के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखें! हमें लगता है कि ये एक दिवसीय हड़ताल इन केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा रस्मी क़वायद है जो मज़दूरों को अर्थवाद के जाल से बाहर नहीं निकलने देने का एक उपक्रम ही साबित होती है। यह अन्ततः मज़दूरों के औज़ार हड़ताल को भी धारहीन बनाने का काम करती है।

**तो फिर इस हड़ताल के प्रति मज़दूरों का क्या रवैया होना चाहिए?** हमारा मानना है कि हमें दो दिवसीय हड़ताल का बिना किसी आलोचना के समर्थन नहीं करना चाहिए और ना ही इससे दूर रहना चाहिए, बल्कि केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा हड़ताल के इस्तेमाल को बेपर्दा करने के लिए हमें इसमें जमकर भागीदारी करनी चाहिए। इसमें भागीदारी करके हमें जहाँ भी सम्भव हो वहाँ पर केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के हाथों से नेतृत्व को छीन लेना चाहिए क्योंकि हड़ताल सरीखे किसी भी ऐक्शन में अगर ये संशोधनवादी नेता मज़दूरों को नेतृत्व देंगे तो यह मज़दूर आन्दोलन में भी मज़दूरों के नेतृत्व पर अपनी दावेदारी मज़बूत करते हैं। ठेका प्रथा का दंश झेल रहे मज़दूरों के एक सशक्त आन्दोलन को खड़ा करने या मज़दूरों के अधिकारों को हासिल करने के लिए कोई प्रोग्राम लेने की बजाय ऐसी ग़द्दार ट्रेड यूनियनें एक दिन की हड़ताल की नौटंकी से मज़दूरों के ग़ुस्से को शान्त करने की क़वायद में जुटी हुई हैं। 1990 में नवउदारवाद और निजीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद से ये केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें केवल दिल्ली राज्य के स्तर पर नहीं बल्कि देश के स्तर पर क़रीब 20 बार 'भारत बन्द', 'आम हड़ताल', 'प्रतिरोध दिवस' का आह्वान करती आयी हैं, परन्तु ये अनुष्ठानिक हड़तालें महज़ मज़दूरों के ग़ुस्से के फटने से पहले प्रेशर को कम करने वाले सेफ़्टी वॉल्व का काम कर इस व्यवस्था की ही रक्षा करती हैं।

**यह हड़ताल किन यूनियनों द्वारा आयोजित करवायी जा रही है?** हड़ताल का आयोजन देश के स्तर पर सीटू, एटक, एक्टू से लेकर एचएमएस व अन्य केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा किया जाता है। लेकिन दिल्ली-एनसीआर में मज़दूर सहयोग केन्द्र या इन्क़लाबी मज़दूर केन्द्र जैसे कुछ अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी संगठन, जो इनकी पूँछ पकड़कर चलते हैं, ऐसी एक दिन की हड़ताल में अपनी पूरी ताक़त झोंक देते हैं। ये मज़दूरों को यह भी नहीं बताते कि चुनावबाज़ पार्टियों से जुड़ी ये ट्रेड यूनियनें इस तरह के रस्मी प्रदर्शन या विरोध की नौटंकी ही करती हैं।

साथियों **केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें इस व्यवस्था की रक्षक हैं जो इस तरह के प्रदर्शनों से व्यवस्था को संजीवनी प्रदान करती हैं।** दूसरी बात यह कि 5 करोड़ संगठित पब्लिक सेक्टर के मज़दूरों की सदस्यता वाली ये यूनियनें इन मज़दूरों के हक़ों को ही सबसे प्रमुखता से उठाती हैं। असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों की माँगें इनके माँगपत्रक में निचले पायदान पर जगह पाती हैं और इस क्षेत्र के मज़दूरों का इस्तेमाल महज़ भीड़ जुटाने के लिए किया जाता है। देश की 51 करोड़ खाँटी मज़दूर आबादी में 84 फ़ीसदी आबादी असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों की है, परन्तु ये न तो उनके मुद्दे ज़ोरदार ढंग से उठाती हैं और न ही उनके बीच इनका कोई आधार है।

### एक दिवसीय हड़ताल को अनिश्चितकालीन हड़ताल में तब्दील करो

अगर केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें केन्द्र व राज्य सरकार के मज़दूर-विरोधी संशोधानों को सच में वापस करवाने की इच्छुक हैं तो क्या इन्हें इस हड़ताल को अनिश्चितकाल तक नहीं चलाना चाहिए? यानी कि तब तक जब तक सरकार मज़दूरों से किये अपने वायदे पूरे नहीं करती और उनकी माँगों के समक्ष झुक नहीं जाती है। मज़दूर ऐसी लम्बी लड़ाई लड़ने के लिए तैयार हैं, परन्तु ये यूनियनें ऐसा कभी नहीं करेंगी! रिको से लेकर मारुति के मज़दूरों के संघर्षों में ये लोग क्यों नहीं हड़ताल पर उतरे और 5 करोड़ सदस्यता को काम बन्द करने को क्यों नहीं कहा? अनाज मण्डी हत्याकाण्ड के बाद भी इन्होंने चक्का जाम का आह्वान क्यों नहीं दिया? एक महीने से हड़ताल पर बैठे होण्डा के मज़दूरों के समर्थन में इन्होंने चक्का जाम क्यों नहीं किया? क्योंकि इनका मक़सद मज़दूरों के हक़ों को जीतना नहीं बल्कि मज़दूरों का ग़ुस्सा हद से ज़्यादा बढ़ने से रोकना है।

इनके साथ ही इन्क़लाबी मज़दूर केन्द्र और मज़दूर सहयोग केन्द्र जैसे संगठन भी हैं जो वैसे ख़ुद को क्रान्तिकारी घोषित करते हैं और इन केन्द्रीय यूनियनों को दलाल बताते हैं, लेकिन इन एक दिन की हड़तालों में इनकी पूँछ पकड़कर चलते हैं और रस्म अदायगी में हिस्सेदारी करते हैं। ये भी अर्थवादी ही हैं पर इनके अर्थवाद का रंग ज़्यादा गहरा है। इनके इस दोगलेपन को भी मज़दूरों को समझना चाहिए।

हमारा मानना है कि हड़ताल मज़दूर वर्ग का एक बहुत ताक़तवर हथियार है जिसका इस्तेमाल बहुत तैयारी और सूझबूझ के साथ किया जाना चाहिए। हड़ताल के नाम पर एक या दो दिन की रस्मी क़वायद से इस हथियार की धार ही कुन्द हो सकती है। ऐसी एक दिनी हड़तालें मज़दूरों के ग़ुस्से की आग को शान्त करने के लिए आयोजित की जाती हैं ताकि कहीं मज़दूर वर्ग के क्रोध की संगठित शक्ति से इस पूँजीवादी व्यवस्था के ढाँचे को ख़तरा न हो। हम यह देख चुके हैं कि केवल एक दिन या दो दिन की हड़ताल के ज़रिये ये केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें पूँजीवादी व्यवस्था को संजीवनी बूटी देती हैं। परन्तु इस हड़ताल में मज़दूरों का सबसे उन्नत हिस्सा भी फ़ैक्टरियों को बन्द करवाने में और हड़ताल के दौरान निकाली जा रही रैली में शामिल होता है। इसलिए मज़दूर वर्ग के हिरावल को भी इन हड़तालों में शामिल होकर इस हड़ताल का इस्तेमाल केन्द्रीय ट्रेड यूनियन और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी राजनीति के भण्डाफोड़ हेतु करना चाहिए। अलग-अलग मज़दूर इलाक़ों और ट्रेड यूनियनों की ताक़त के अनुसार यह हर जगह अलग क़िस्म से लागू होगा परन्तु हमें इन संघर्षों में भागीदारी कर मज़दूरों के बीच संशोधनवादी राजनीति को नंगा करना चाहिए और मज़दूरों को इन संशोधनवादियों के नेतृत्व में एक दिन भी अकेले नहीं छोड़ना चाहिए।

पिछले साल नीमराना में डाइकिन कम्पनी के मज़दूरों ने 8 जनवरी को हड़ताल के समर्थन में रैली निकाली जिसके बाद डाइकिन कम्पनी गेट पर पुलिस और कम्पनी बाउंसरों ने मज़दूरों पर लाठीचार्ज किया और पत्थरबाज़ी की। इस घटना के विरोध में तमाम केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों और अपने को केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों का विकल्प बताते परन्तु उनकी पूँछ में कंघा करने वाले 'मज़दूर सहयोग केन्द्र' और 'इन्क़लाबी मज़दूर केन्द्र' ने केवल क़ानूनी दाँवपेंच लड़े और अपने को सिर्फ़ ज्ञापन देने और तथ्यान्वेषण टीम तक ही सीमित रखा। अगर इस लाठीचार्ज के विरोध में गुड़गाँव, धारूहेड़ा, मानेसर से लेकर नीमराना में हज़ारों की सदस्यता वाली केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें अनिश्चितकालीन हड़ताल का ऐलान कर देतीं तो इसकी सम्भावना अधिक थी कि प्रशासन मज़दूरों के ख़िलाफ़ दर्ज किये झूठे मुक़दमे वापस लेता और दोषी पुलिसकर्मियों पर कार्रवाई करता। परन्तु इस माँग को लेकर केवल ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्रियल काण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन अभियान चलाती रही जिसे मज़दूरों में भारी समर्थन मिला, लेकिन न तो किसी केन्द्रीय ट्रेड यूनियन ने और न ही 'मज़दूर सहयोग केन्द्र' और 'इन्क़लाबी मज़दूर केन्द्र' ने ऐसा आह्वान किया। पिछले साल के इस घटनाक्रम से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा व्यवस्था की सुरक्षा पंक्ति के रूप में अपनी भूमिका निभाने को हमें शिद्दत से बेपर्दा करना होगा। इसके लिए हमें केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा आयोजित आम हड़ताल में भी शामिल होकर मज़दूर वर्ग को नेतृत्व देना होगा और इस समझौतापरस्त राजनीति को मज़दूर आन्दोलन से ख़त्म करने की कोशिश करनी होगी। साथ ही हमें इनकी पूँछ पकड़कर मज़दूर आन्दोलन की सवारी करने निकले अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी संगठनों की राजनीति की पोल भी खोलनी होगी।

# राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर (एनआरसी) और नागरिकता संशोधन क़ानून

**(पेज 9 से आगे)**

यहाँ कांग्रेस की विभाजन में भूमिका से पहले इस विभाजन के मुख्य सूत्रधारों की काली भूमिका पर बात होनी सबसे पहले ज़रूरी है, जिन्होंने दो राष्ट्र का सिद्धान्त देकर हिन्दुओं व मुसलमानों को अलग-अलग राष्ट्र के रूप में चिह्नित किया, और साम्प्रदायिक आधार पर विभाजन की बुनियाद रखी। अक्सर धर्म के आधार पर हिन्दू और मुसलामानों को दो राष्ट्र के रूप में अलग-अलग परिभाषित करने का श्रेय मुहम्मद अली जिन्ना को दिया जाता है। लेकिन जिन्ना के साथ इस कुकर्म के साझे गुनाहगार भाजपा–संघ के परम श्रद्धेय माफ़ीवीर विनायक दामोदर सावरकर भी रहे जिन्होंने जिन्ना से पहले 1935 में, अहमदाबाद में हुए हिन्दू महासभा के अधिवेशन में द्विराष्ट्र सिद्धान्त की प्रस्थापना दी थी। इसके अलावा भाजपा के मातृसंगठन, आरएसएस के संस्थापकों ने भी बार- बार इस बात को दोहराते हुए मुस्लिम लीग और जिन्ना के सुर में सुर मिलाने का काम किया और साम्प्रदायिक विभाजन में प्रमुख भूमिका निभायी थी। आरएसएस के दूसरे सरसंघचालक एम. एस. गोलवलकर ने अपनी पुस्तक "वी ऑर आवर नेशनहुड डिफ़ाइन्ड" में तो ये तक लिखा है कि जो लोग हिन्दू राष्ट्र के सिद्धान्त से सहमत नहीं, वो देश के ग़द्दार हैं। ऐसे में अमित शाह द्वारा विभाजन का ठीकरा दूसरों पर फोड़ना और अपने ख़ुद के राजनीतिक पूर्वजों के विभाजनकारी कुकृत्यों और शर्मनाक इतिहास पर कुछ न कहना उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे वाली बात है।

साफ़ है कि NRC की यह प्रक्रिया व CAB भारत की एक विशाल आबादी को, जो कई पुश्तों से भारतीय समाज का अभिन्न अंग है, सिर्फ़ दस्तावेज़ो की असमर्थता के कारण तमाम नागरिक अधिकारों व मूलभूत नागरिक सुविधाओं से वंचित करने का फ़ासीवादी षड्यंत्र है। इस प्रक्रिया के कारण भारी संख्या में लोगों के वोट देने का अधिकार, खेती व रोज़गार छिन जायेगा। नागरिक अधिकार छिन जाने और ग़ैरक़ानूनी आप्रवासी घोषित कर दिये जाने पर यह विशाल आबादी श्रम के सस्ते स्रोत में बदल दी जायेगी। असम या भारत ही नहीं, दुनियाभर में क्षेत्रीयता, नस्ल, भाषा व सम्प्रदाय के आधार पर इन्सानों को "ग़ैरक़ानूनी" घोषित करने का यह प्रचलन श्रम की मण्डी में मेहनतकशों के मोलभाव की शक्ति को और भी कम कर देता है। जब इतनी विशाल आबादी नागरिक अधिकार खोने की वजह से श्रम की मण्डी में मोलभाव की शक्ति खो देगी और बेहद कम क़ीमत पर अपनी श्रमशक्ति बेचने को मजबूर होगी, तो बाक़ी के मेहनतकश नागरिक, जिनके पास नागरिकता है, उन्हें भी अपनी श्रमशक्ति को बेहद सस्ते में बेचने को मजबूर होना पड़ेगा। यानी कि धनपशु पूँजीपतियों को सस्ते से सस्ते में मज़दूर मुहैया होंगे जो अपनी बर्बादी की बुनियाद पर मालिकों के मुनाफ़े की तिजोरी भरेंगे। इसके अलावा सरकार द्वारा भयंकर बेरोज़गारी, मन्दी, आर्थिक संकट, जर्जर होती शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाएँ व भ्रष्टाचार से उपजे जनाक्रोश को शान्त करने हेतु मेहनतकश जनता के सामने काल्पनिक शत्रु खड़ा कर देना और उन्हें आपस में धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र के आधार पर लड़ाकर विभाजित करना ही इस पूरी प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य है।

# देश को आग और ख़ून के दलदल में धकेलने की फासिस्ट साज़िश को नाकाम करने के लिए एकजुट होकर आगे बढ़ो!

(पेज 1 से आगे)

लड़ाकर पूँजीपतियों की चाकरी बजा सकती है और अपना उल्लू सीधा कर सकती है। इसीलिए हरेक जाति-मज़हब के न्यायप्रिय व्यक्ति को हर तरह के फूटपरस्त और जन-विरोधी क़ानूनों का विरोध करना चाहिए।

तथाकथित 'हिन्दू राष्ट्र' का अपना एजेण्डा लागू करने की भाजपा को ऐसी जल्दी क्यों मची हुई है? **इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि अर्थव्यवस्था अब तक के सबसे गम्भीर संकट में है और ढहने की कगार पर है।** चारों ओर से सार्वजनिक संसाधनों की लूट-खसोट मचाकर, झूठे आँकड़े देकर और मीडिया में इसकी चर्चा पर रोक लगाकर सरकार ने हालात का भाँडा फूटने से रोक रखा है ताकि जनता इसके विरोध में सड़कों पर न उतर आये। लेकिन कभी किसी बैंक का भट्ठा बैठने, कभी किसी बड़ी कम्पनी का दिवाला निकलने, तो कभी लाखों की तादाद में लोगों की छँटनी जैसी ख़बरें उभरकर सामने आ ही जाती हैं। बेरोज़गारी विकराल रूप ले चुकी है। मज़दूरों से लेकर पढ़े-लिखे नौजवानों की विशाल आबादी इसकी चपेट में है। महँगाई ने ग़रीबों की कमर तो पहले ही तोड़ रखी थी, अब मध्य वर्ग के निचले तबकों के लिए भी जीना दूभर होता जा रहा है।

सत्ता में बैठे लोग और उनके पीछे बैठे संघ के नेता यह जानते हैं कि जनता के सब्र का प्याला कभी भी छलक सकता है। इसीलिए वे बदहवास हैं और इन विनाशकारी क़दमों को एक के बाद लागू किये जा रहे हैं। नवम्बर में राम मन्दिर का फ़ैसला अपने पक्ष में करवाने के बाद भी समाज में तीखा और उग्र ध्रुवीकरण करने का भाजपा का मंसूबा पूरा नहीं हुआ। असम में एनआरसी का पहला प्रयोग भी उल्टा इनके गले पड़ गया। वर्षों से भाजपा यह प्रचार कर रही थी कि "करोड़ों मुस्लिम घुसपैठियों" के कारण देश में अस्थिरता है और इन्हें निकाल बाहर करने से सब ठीक हो जायेगा। मगर एनआरसी में असम में कुल 19 लाख "बाहरी" पाये गये–और उनमें से भी 13 लाख से ज़्यादा हिन्दू हैं। यह भी तब जब बरसों चली क़वायद में अरबों रुपये ख़र्च करने के बाद भी बड़े पैमाने पर घपले पाये गये। कहीं एक ही परिवार के कुछ सदस्य बाहरी ठहरा दिये गये तो कहीं पूर्व राष्ट्रपति और सेना के अफ़सरों के परिजन ही बाहरी क़रार दिये गये।

अब इसकी काट के लिए ये नागरिकता संशोधन क़ानून ले आये हैं जो सीधे-सीधे धर्म के आधार पर एक समुदाय को नागरिकता से वंचित करता है। यह कितना ख़तरनाक़ क़ानून है इसके बारे में विस्तार से हमने अन्दर के पृष्ठों पर लिखा है। असलियत यह है कि पाकिस्तान, बांग्लादेश से प्रताड़ित होकर आने वालों को भारत की नागरिकता देने में अभी भी कोई बाधा नहीं थी। पाकिस्तान, बांग्लादेश, अफ़ग़ानिस्तान से आये लगभग दो करोड़ से अधिक शरणार्थियों को अब तक भारत की नागरिकता मिली हुई है। इनमें दो प्रधानमंत्री (आई. के. गुजराल और मनमोहन सिंह) और एक उपप्रधानमंत्री आडवाणी भी शामिल हैं। दिल्ली, मुम्बई जैसे महानगरों और पंजाब-कश्मीर से बंगाल-त्रिपुरा तक के अनेक शहरों में बड़ी-बड़ी कॉलोनियाँ हैं जो शरणार्थियों के लिए बसायी गयीं। उत्तर प्रदेश (अब उत्तराखण्ड) की तराई में उन्हें ज़मीनें दी गयीं। ज़ाहिर है कि मौजूदा क़ानून की वजह से किसी शरणार्थी को नागरिकता मिलने में कोई रुकावट नहीं हुई। उसके बाद भी समय-समय पर भारत में शरण लेने वालों को क़ानून के तहत नागरिकता दी जाती रही है। अब भाजपा जिन शरणार्थियों की बात कर रही है उन्हें भी नागरिकता देने के लिए कोई नया क़ानून बनाने की कोई ज़रूरत नहीं थी। इसका एकमात्र मक़सद धर्म के आधार पर भेदभाव को क़ानूनी जामा पहनाकर उसे स्वीकार्य बनाना ही है।

और बात सिर्फ़ नागरिकता क़ानून की नहीं है। एनआरसी, यानी राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर को पूरे देश में लागू करने की बात अमित शाह से लेकर तमाम भाजपाई मुख्यमंत्री कहते रहे हैं। इसका सीधा मतलब होगा कि पूरे देश के लोग अपनी तीन पीढ़ियों के काग़ज़ात जुटाकर लाइन में लगे रहें और जो ये साबित न कर पायें उन्हें नज़रबन्दी गृहों में क़ैद कर दिया जाये। इसके बहाने भाजपा तमाम अल्पसंख्यक आबादी के सिर पर तलवार लटकाये रखना चाहती है ताकि वह चुपचाप मुल्क में अपनी दोयम दर्जे की स्थिति को स्वीकार कर लें। लेकिन इसकी मार देश की बहुत बड़ी ग़रीब-मेहनकतकश आबादी पर भी पड़ेगी जिसकी नज़ीर हम असम में देख चुके हैं।

**भारत में 'फूट डालो और राज करो' का बीज अंग्रेज़ों ने बोया था। उन्हें तब्लीगी जमात, हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के रूप में आसानी से अपने सहायक भी मिल गये। फूटपरस्ती देश के ख़ूनी विभाजन तक पहुँची। लाखों लोगों को अपनी जान गँवानी पड़ी और करोड़ों मासूम अपनी जगह-ज़मीन-संस्कृति और भाषा से कट गये। अंग्रेज़ तो चले गये लेकिन लोगों को आपस में लड़ाने की राजनीति अभी तक चल रही है।**

मुस्लिम विरोध और साम्प्रदायिक-जातिवादी और फ़ासीवादी राजनीति भाजपा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जनसंघ व हिन्दू महासभा जैसे इसके पूर्व और मातृ संगठनों का पुराना काम रहा है। फ़ासीवादी राजनीति हमेशा ही सम्प्रदाय-विशेष को मौजूदा समस्याओं का ज़िम्मेदार ठहराती है और दंगों व सरकारी दमन के माध्यम से सामाजिक अस्थिरता पैदा करती है। पूँजीवाद की असल समस्याओं के बरक्स सम्प्रदाय-विशेष के रूप में एक नकली दुश्मन खड़ा कर दिया जाता है और लोगों का ध्यान असल मुद्दों से भटका दिया जाता है। मुनाफ़े की गिरती दर के कारण विकराल रूप धारण करने वाली आर्थिक मन्दी कहीं पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ जनाक्रोश को भड़का न दे इसीलिए आज कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग की सेवा में जुटी फ़ासीवादी सत्ता जनता को बाँटने और आतंकित करने में जुट गयी है। यह अनायास ही नहीं है कि कुल कॉरपोरेट चन्दे का बड़ा हिस्सा भाजपा की झोली में जा रहा है। फ़ासिस्ट भाजपा सरकार और संघी संगठन अपनी राजनीति और गोयबल्सी दुष्प्रचार से बँटवारे और बर्बादी का ऐसा ताण्डव रच रहे हैं जिससे शिक्षा-चिकित्सा-रोज़गार-महँगाई-भ्रष्टाचार-दमन और लूट जैसे जीवन से जुड़े मुद्दों को भूलकर लोग जाति-मज़हब के नाम पर उत्तेजित होकर एक-दूसरे के दुश्मन बन जायें।

लेकिन जिस तरह हर दिन रोज़गार के मौके कम हो रहे हैं, कम्पनियाँ बन्द हो रही हैं, छँटनी हो रही है, सरकारी नौकरियाँ ख़त्म की जा रही हैं, सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों को मुनाफ़ा निचोड़ने वाली निजी कम्पनियों के हवाले किया जा रहा है, मुनाफ़े की हवस में पर्यावरण को बर्बाद किया जा रहा है, ऐसे में अगर देश का अवाम इस खुली लूट और डाकेज़नी को रोकने के लिए आपस के नकली भेद भुलाकर सड़कों पर नहीं उतरा तो हमारी आने वाली पीढ़ियाँ हमें कभी माफ़ नहीं करेंगी। ऐसा न हो कि हमें इन सवालों के जवाब में मुँह छिपाना पड़े कि जब कुछ लोग देश को बचाने के लिए लड़ रहे थे तो हमने क्या किया। जब छात्रों पर लाठियाँ भाँजी जा रही थीं, छात्राओं को बेइज़्ज़त किया जा रहा था, तब हम क्या कर रहे थे? जब मज़दूर अपने अधिकारों के लिये आन्दोलन कर रहे थे तब हम कहाँ थे? जब आत्महत्या के लिए मजबूर ग़रीब किसान अपने अस्तित्व की लड़ाई में सड़कों पर थे तब हम कहाँ थे, जब स्त्रियों के विरुद्ध बर्बरता का विरोध सड़कों पर हो रहा था, तब हम कहाँ थे?

# स्त्रियों के विरुद्ध जारी बर्बरता – निरन्तर और संगठित प्रतिरोध की ज़रूरत है

(पेज 1 से आगे)

अफ़सर तक इनके सुर में सुर मिलाना शुरू कर देते हैं। जिस देश में बलात्कार के मामले पर प्राथमिकी दर्ज कराने गयी लड़की के साथ पुलिसवाले दोबारा सामूहिक बलात्कार करते हैं, वहाँ आप कैसे इंसाफ़ की उम्मीद कर सकते हैं? जहाँ गिरफ़्तार राजनीतिक महिला कार्यकर्ताओं को यौन यातना देने वाले पुलिसवाले को सरकार वीरता पुरस्कार से सम्मानित करती है, वहाँ किस तरह का न्याय हो सकता है?

स्त्रियों पर हमला करने वाले आदमख़ोर भेड़ियों की तरह बेख़ौफ़ घूमते रहते हैं। हिफ़ाज़त के लिए बनी संस्थाएँ ही स्त्रियों की सबसे बड़ी दुश्मन बन चुकी हैं। बलात्कार के 74 प्रतिशत आरोपी बेदाग़ छूट जाते हैं। अख़बारों और टीवी चैनलों में बलात्कार की ख़बरें चटखारेदार माल की तरह परोसी जाती हैं। बलात्कार की हर चर्चित घटना के बाद सरकार से लेकर सभी विपक्षी चुनावी पार्टियाँ घड़ियाली आँसू बहाती हैं। लेकिन हर चुनावी पार्टी में बलात्कार, भ्रष्टाचार, हत्या आदि के आरोपी भरे हुए हैं। एसोसिएशन फ़ॉर डेमोक्रेटिक रिफ़ॉर्म्स की रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान लोकसभा में करीब 43 प्रतिशत सांसदों के विरुद्ध स्त्री-विरोधी अपराधों सहित तमाम तरह के आपराधिक आरोप हैं। इनमें सबसे बड़ी संख्या भाजपा के सांसदों की है जिनमें से 30 प्रतिशत के विरुद्ध बलात्कार, हत्या, अपहरण जैसे गम्भीर स्त्री-विरोधी अपराधों के आपोप हैं। भाजपा ही वह पार्टी है जिसके नेता खुलकर बलात्कारियों का बचाव करते हैं या उनके पक्ष में सड़कों पर उतर आते हैं!

पिछले दो दशकों से जारी आर्थिक नीतियों ने 'खाओ-पियो ऐश-करो' की संस्कृति में लिप्त एक नवधनाढ्य वर्ग पैदा किया है जिसे लगता है पैसे के बूते पर वह सबकुछ खरीद सकता है। पूँजीवादी लोभ-लालच और हिंस्र

भोगवाद की संस्कृति ने स्त्रियों को एक 'माल' बना डाला है, और पैसे के नशे में अन्धे इस वर्ग के भीतर उसी 'माल' के उपभोग की उन्मादी हवस भर दी है। इन्हीं लुटेरी नीतियों ने समाज के हाशियों पर पलता हुआ एक आवारा, लम्पट, पतित वर्ग भी पैदा किया है जो पूँजीवादी अमानवीकरण की सभी हदों को पार कर चुका है। इस सबको निरन्तर खाद-पानी देती है हमारे समाज के पोर-पोर में समाई पितृसत्तात्मक मानसिकता, जो स्त्रियों को भोग की वस्तु और बच्चा पैदा करने का यंत्र मानती है, और हर वक्त, हर पल स्त्री-विरोधी मानसिकता को जन्म देती है।

इसलिए सख़्त क़ानून बनाने और कुछ प्रशासनिक क़दम उठाने जैसी पैबन्दसाज़ियों से समस्या हल नहीं होने वाली। इन तात्कालिक माँगों के साथ ही हमें स्त्री-विरोधी नफ़रत और मानसिक बीमारियों को पैदा करने वाली पूँजीवादी संस्कृति के विरुद्ध भी लड़ना होगा। उस पूरे सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक ढाँचे को ही उखाड़ फेंकने की लम्बी लड़ाई शुरू करनी होगी, जिसमें इंसान को भी एक माल बना दिया गया है, और औरत को महज़ जिस्म में तब्दील कर दिया गया है जिसे कोई भी नोच-खसोट सकता है! स्त्रियों को अपनी सुरक्षा और सम्मान के लिए खुद लड़ना भी सीखना होगा।

सिर्फ़ अपना ग़ुस्सा, अपनी नफ़रत और अपनी भड़ास निकाल लेने से कुछ नहीं होगा। यह सिलसिला यहीं रुक नहीं जाना चाहिए। स्त्री की ग़ुलामी के सभी रूपों, स्त्री उत्पीड़न के सभी रूपों के ख़िलाफ़ और उन्हें पैदा करने वाले सामाजिक ढाँचे को तोड़ डालने के लिए अपने संघर्ष को हमें संगठित करना होगा। हर घटना के बाद होने वाले क्रोध के विस्फ़ोट को संगठित विरोध के एक निरन्तर प्रवाह में बदलना ही होगा।

# राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर (एनआरसी) और नागरिकता संशोधन क़ानून : भारत को हिटलरी युग में धकेलने का फ़ासिस्ट क़दम

**– पावेल पराशर**

दिसम्बर महीने की 9 तारीख़ को लोकसभा और 11 तारीख़ को राज्यसभा से पारित होने के बाद भारतीय नागरिकता संशोधन विधेयक (CAB) क़ानून बनकर अस्तित्व में आ चुका है। यह लेख लिखे जाने तक इस नये क़ानून के ख़िलाफ़ देशभर के कई हिस्सों में विरोध प्रदर्शन जारी है, ख़ासकर त्रिपुरा और असम में यह विरोध उग्र रूप ले चुका है।

**क्या है नागरिकता संशोधन बिल?**

संसद में जो बिल पास हुआ है, वह नागरिकता अधिनियम 1955 में बदलाव करेगा। नागरिकता संशोधन बिल के क़ानून का रूप लेने से पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान और बांग्लादेश में धार्मिक उत्पीड़न के कारण वहाँ से पलायन करके भारत आये हिन्दू, ईसाई, सिख, पारसी, जैन और बौद्ध धर्म के लोगों को भारत की नागरिकता दी जायेगी। पेंच यह है कि इस बिल में मुस्लिम धर्म के लोगों को शामिल नहीं किया गया है। नागरिकता हासिल करने के लिए इन हिन्दू, ईसाई, सिख, पारसी, जैन और बौद्ध धर्म को मानने वालों को भारत में कम से कम 6 साल बिताने होंगे, पहले नागरिकता हासिल करने के लिए कम से कम 11 साल बिताने का पैमाना तय था। साथ ही नागरिकता का दावा पेश करने के लिए भारत में प्रवेश करने की निर्णायक तारीख़ 31 दिसम्बर 2014 से पहले की होगी।

गृहमंत्री अमित शाह ने इस बिल को सदन के पटल पर पेश करते हुए ख़ुद को पड़ोसी मुल्क़ों से आये ग़ैर-मुस्लिम "शरणार्थियों" का मुक्तिदाता साबित करने की कोशिश में दिये गये भाषण में ख़ुद ही अपनी पीठ जमकर थपथपायी। संविधान के स्तुतिगान में चन्द शब्द कहे गये, और अमित शाह ने संविधान को अपनी पार्टी का धर्म घोषित कर दिया। यह बिल सदन में पेश करते हुए भारतीय संस्कृति के "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्त को चरितार्थ करने का दावा किया गया। प्रधानमंत्री मोदी जो वैसे तो ख़ुद इस बिल के पेश होते समय सदन से अवकाश लेकर झारखण्ड के चुनाव प्रचार में व्यस्त रहे, पर अपने चुनावी भाषणों और ट्वीट के माध्यम से उन्होंने इस बिल को भारतीय संस्कृति के सदियों पुराने सहिष्णुता और आत्मसातीकरण की परम्परा का विस्तार घोषित कर डाला। पर तमाम भाषणबाज़ी, जुमलों और गोदी मीडिया जनित उन्माद के अन्त में जो बिल सदन में पेश हुआ, वह जनवाद के न्यूनतम पैमानों पर भी खरा उतरना तो दूर, मानवाधिकार के बुनियादी मूल्यों के भी बिल्कुल विपरीत खड़ा मिलता है। एक तरफ़ भारतीय राज्य दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र और सबसे "महान" धर्मनिरपेक्ष राज्य होने का दावा करता है, वहीं यह नागरिकता संशोधन क़ानून नागरिकता देने अथवा छीनने का पैमाना धर्म को ही मानते हुए ख़ुद अपने संविधान की प्रस्तावना में वर्णित "धर्मनिरपेक्षता", "लोकतंत्र", "समानता", "न्याय", "बंधुत्व" जैसे शब्दों को भी महज़ जुमला और पाखण्ड साबित करता है।

इस क़ानून के अघोषित उद्देश्यों और इरादों पर तो बाद में चर्चा करेंगे ही, पर सबसे पहले इस क़ानून को लाने के घोषित उद्देश्यों के आधार पर ही इसका आकलन करें तो पायेंगे कि विधेयक को संसद के पटल पर रखते हुए भारत सरकार देश की जनता के साथ धोखेबाज़ी और फ़रेब के अलावा और कुछ नहीं कर रही है। इनका यह दावा कि यह बिल पड़ोसी मुल्क़ों में रहने वाले प्रताड़ित अल्पसंख्यक समुदायों को शरण देने के "मानवीय उद्देश्य" से किया गया है, अपने आप में तब झूठा सिद्ध होता है, जब नागरिकता देने का आधार धर्म को घोषित करते हुए म्यांमार में

धार्मिक उत्पीड़न का शिकार रहे रोहिंग्या शरणार्थियों, श्रीलंका के तमिल (हिन्दू व मुसलमान) शरणार्थियों, पाकिस्तान के शिया व अहमदिया समुदायों, चीन के वीगरों को, अफ़ग़ानिस्तान में तालिबानी शासन के बर्बर दौर में वहाँ से भागकर भारत में शरण लेने वालों (जिनमें महिलाओं की अच्छी ख़ासी संख्या थी) इन सबको इस सूची से बाहर रखा गया है।

बिल को पेश करते वक़्त यह तर्क दिया गया है कि पड़ोसी देशों में सिर्फ़ ग़ैरमुसलमान ही साम्प्रदायिक आधार पर उत्पीड़न के शिकार होते हैं, जोकि अपने आप में सच्चाई से कोसों दूर है। दरअसल इस बिल के साम्प्रदायिक प्रावधानों की मदद से एक धार्मिक समुदाय को पूरी तरह से बाहर करके नागरिकता को नये तरीक़े से परिभाषित करने की परिपाटी तय करने की दिशा में इस क़ानून का आकलन ज़रूरी है। यह क़ानून सीधे-सीधे संविधान के अनुच्छेद 15 का उल्लंघन है, जो किसी भी व्यक्ति (चाहे वह नागरिक हो अथवा न हो) के साथ धर्म, जाति, नस्ल, लिंग अथवा जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध करता है। (वो अलग बात है कि व्यवहार में संविधान के अंतर्गत दिये तमाम अधिकारों के साथ उन्हें छीन लेने के रास्ते भी छोड़ रखे गये हैं।)

**CAB और NRC का मेल, देश को नाज़ी जर्मनी की दिशा में ले जाने वाला ख़तरनाक क़दम**

NRC यानी राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर, असम में भारतीय नागरिकों के नाम व अन्य प्रासंगिक सूचनाएँ दर्ज करने के लिए 1951 की जनगणना के वक़्त अस्तित्व में आया। यह रजिस्टर 1951 के बाद से अपडेट नहीं हुआ था। इसे अपडेट करने वाला पहला राज्य असम बना। बीते 20 नवम्बर को अमित शाह ने घोषणा की कि सरकार पूरे देश में NRC लागू करने की मंशा रखती है। इसके तहत जिन लोगों का नाम नागरिक रजिस्टर में किन्हीं कारणों से नहीं आ सका, उन्हें ग़ैरक़ानूनी प्रवासी घोषित करके विशेष बन्दी शिविरों में रखा जायेगा, जिन शिविरों के हालात मौजूदा जेलों से बेहतर नहीं हैं। केन्द्र सरकार ने तमाम राज्य सरकारों को अपने-अपने राज्य के प्रमुख शहरों में ऐसे बन्दी शिविरों के निर्माण करने का निर्देश दे दिया है। असम में तो ऐसे बन्दी शिविर तैयार भी हो चुके हैं जहाँ नज़रबन्द लोग बेहद नारकीय हालत में रहने को मजबूर हैं। कुछ दिनों पहले देश के गृह राज्य मंत्री नित्यानंद राय ने राज्यसभा में यह क़बूल किया था कि इन शिविरों में अब तक 29 मौतें हो चुकी हैं। असली आँकड़ा इससे कई गुना अधिक होने की सम्भावना जतायी जा रही है और इन मौतों के प्रमुख कारणों में, रहने के बेहद अमानवीय हालात से लेकर, गन्दगी, बीमारियाँ व चिकित्सा सेवाओं के भीषण अभाव को ज़िम्मेदार ठहराया जाता रहा है।

CAB के पारित होने के बाद किसी व्यक्ति को अपनी नागरिकता को इन तीन बिन्दुओं पर सिद्ध करना पड़ेगा: 1. उस व्यक्ति ने अफ़ग़ानिस्तान, बांग्लादेश, पाकिस्तान से भारत में 31 दिसम्बर 2014 की कट ऑफ़ तारीख़ से पहले प्रवेश किया हो; 2. उस व्यक्ति के पास अपने मूल देश का पहचान प्रमाणपत्र व भारत आने की यात्रा के दस्तावेज़ हों; 3. उसने धार्मिक उत्पीड़न के आधार पर पलायन किया हो। यह साफ़ है कि इन तीन बिन्दुओं में से ख़ासकर दूसरे व तीसरे बिन्दु को सिद्ध कर पाना बेहद कठिन है, व ऐसा करने में विफल होने का मतलब है बन्दी शिविरों में नज़रबन्द हो जाना, या फिर लम्बी व बेहद तकलीफ़देह क़ानूनी प्रक्रिया में अपना सबकुछ झोंक देना।

इन प्रावधानों के आधार पर भारी संख्या में ऐसे लोग NRC में पंजीकृत होने से वंचित रह जायेंगे जो भारत में कई पुश्तों से रह रहे हैं लेकिन ग़रीबी, अशिक्षा, विस्थापन जैसे तमाम कारणों से दस्तावेज़ प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। लाखों लोग जो इन फ़िज़ूल के सरकारी दस्तावेज़ी तामझाम में फँसकर अपने परिवारों से अलग हो जायेंगे। कई ग़रीब जिन्हें अपनी नागरिकता सिद्ध करने के लिए क़ानूनी लड़ाई लड़ने हेतु अपनी मुफ़लिसी के बीच तमाम संसाधनों को फूँकना पड़ जायेगा। इस मुद्दे पर एक ज़रूरी पक्ष ये भी है कि भारत के सरकारी दफ़्तरों में कामकाज की स्थिति इतनी निष्प्रभावी व निकम्मी है, जिसके उदाहरण हम वोटर कार्ड से लेकर राशन कार्ड, आधार कार्ड तक में होने वाली ग़लतियों के रूप में प्रत्यक्ष देखते हैं। इसकी मार भी NRC की प्रक्रिया झेल रहे लाखों नहीं करोड़ों लोगों को झेलनी पड़ेगी। अमेरिका के जॉर्ज मैसन यूनिवर्सिटी में रिसर्च कर रही श्रुति राजगोपालन कहती हैं कि भारत के सरकारी विभाग यदि NRC की प्रक्रिया को अप्रत्याशित रूप से बेहद प्रभावी ढंग से भी अंजाम देते हैं, और सिर्फ़ 5% की त्रुटि दर से NRC की प्रक्रिया पूरी करते हैं तो भी क़रीब 6.75 करोड़ भारतीय, नागरिकता खोकर बन्दी शिविर में क़ैद हो जायेंगे। ये संख्या द्वितीय विश्व युद्ध में हुए विस्थापन की संख्या से भी बड़ी है। ये तब जब ये सारे सरकारी तामझाम बेहद कम त्रुटि दर के साथ सम्पन्न हो जायें, जबकि सरकारी विभागों का अबतक की तमाम योजनाओं को ज़मीन पर उतारने का ट्रैक रिकॉर्ड इशारा करता है कि प्रबल सम्भावना इस प्रक्रिया के इससे कहीं अधिक बुरे कार्यान्वयन की है।

सिर्फ़ असम की ही बात करें तो 3 करोड़ की जनसंख्या को 4 साल से अधिक समय तक भयंकर पीड़ादायक प्रक्रिया से गुज़ारने के बाद NRC ने 19 लाख लोगों की ज़िन्दगी को बेहद तकलीफ़देह तनाव व असुरक्षा से भर दिया। लेकिन इस प्रक्रिया ने दशकों से चुनावबाज़ पार्टियों द्वारा फैलाये जा रहे उस झूठ और प्रोपागैण्डा का भी पर्दाफ़ाश कर दिया कि बांग्लादेश से भारी संख्या में मुसलमानों ने आकर राज्य की जनसांख्यिकी को बदल दिया है और तमाम संसाधनों पर क़ब्ज़ा कर लिया है, असमियों को अल्पसंख्यक बना दिया है और उनकी भाषा-संस्कृति को ख़तरे में डाल दिया है। इस झूठ को फैलाने का प्रमुख उद्देश्य शासक वर्ग की पार्टियों द्वारा जनता को शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार, जैसी बुनियादी ज़रूरतें मुहैया न करा पाने की नाकामी पर पर्दा डालना और मेहनतकश जनता को एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ाकर उन्हें बाँटना होता है। NRC में आने में असफल रहे 19 लाख लोगों में भी 13 लाख तो असमिया बंगाली हिन्दू, नेपाली, गोरखा, व असम के आदिवासी हैं। असम में ही 4 साल की इस जटिल व महँगी प्रक्रिया पर 15 हज़ार करोड़ फूँकने के बाद भी असम की कुल आबादी के बमुश्किल दो प्रतिशत ऐसे लोग मिले जिनके बांग्लादेशी होने का शक हो। कल को इनमें से भी अधिकतर असमिया ही निकलें तो ताज्जुब न करें। अब सोचिए यही प्रक्रिया पूरे देश में अपनायी जायेगी तो क्या हाल होगा। असम में लगभग हर साल बाढ़ आती है, गाँव के गाँव डूब जाते हैं। ग़रीब वंचित तबक़ों का तो सबकुछ बाढ़ में बह जाता है, दस्तावेज़ भी। उनसे ये फ़ासिस्ट सरकार 1971 और 1951 से पहले के दस्तावेज़ माँग रही है और न दे पाने की सूरत में तमाम नागरिक अधिकार छीनकर बन्दी कैम्प के नरक में झोंक देना चाहती है।

असम तो छोड़िए पूरे देश में 1951 से पहले के दस्तावेज़ की शर्त लागू की जाये तो अधिकतर ग़रीब मज़दूर, किसान इसे प्रस्तुत कर पाने में असमर्थ होंगे। हालाँकि यह बात भाजपा भी जानती है कि इतनी बड़ी संख्या को बांग्लादेश भेजना सम्भव नहीं, लेकिन इस उन्माद का इस्तेमाल देशभर में साम्प्रदायिक विभाजन और नफ़रत को हवा देने व बेरोज़गारी, मन्दी, भुखमरी जैसी तमाम समस्याओं से भटकाने के लिए ही किया जा सकता है। साम्प्रदायिक आधार पर नागरिकता और एक अल्पसंख्यक समुदाय विशेष के लिए अमानवीय बन्दी शिविरों का निर्माण नाज़ी यातना शिविरों की यादें ताज़ा करने के लिए काफ़ी है।

सदन में बिल पर चर्चा के दौरान इस बिल के नंगे साम्प्रदायिक चरित्र पर सवाल पूछे जाने पर अमित शाह ने ठीकरा कांग्रेस पर फोड़ते हुए कहा कि यदि 1947 में कांग्रेस ने धर्म के आधार पर विभाजन न किया होता तो आज इस बिल की ज़रूरत ही न पड़ती।

**(पेज 7 पर जारी)**

# दुनियाभर में रोज़ बढ़ते करोड़ों शरणार्थी और प्रवासी

## पूँजीवाद ही ज़िम्मेदार है इस विकराल मानवीय समस्या का

**– पराग**

एमनेस्टी इण्टरनेशनल का हालिया सर्वेक्षण बताता है कि 2018 में पूरे विश्व में 7.1 करोड़ शरणार्थी हो गये हैं जो अभी तक के इतिहास में सर्वाधिक हैं। इन शरणार्थियों में आधी संख्या बच्चों की है। आर्थिक मन्दी के दस वर्ष से भी ज़्यादा गुज़र जाने के बाद भी पूँजीवादी व्यवस्था संकट में ही है और इससे उबरने का कोई रास्ता नहीं निकल रहा है। पूँजीवाद का मुनाफ़ा कमाने का इंजन लगातार सस्ते संसाधनों और सस्ते श्रम की माँग करता है और इसलिए बड़े पूँजीवादी देश दूसरे देशों के संसाधनों पर नियंत्रण के लिए उनके आन्तरिक मामलों में दख़ल देना शुरू कर देते हैं। संसाधनों पर नियंत्रण के मामले में साम्राज्यवादी देशों के बीच अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिद्वन्दिता भी जन्म लेती है जिसका परिणाम इन देशों के बीच चलने वाले दीर्घकालिक युद्ध के रूप में दिखायी पड़ता है। इन युद्धों में पैदा हुई हिंसा, उत्पीड़न, अनिश्चितताओं, खाने-पीने की कमी और स्वास्थ्य सेवाओं के अभाव में आम लोग अपने देशों को छोड़ दूसरे देशों में शरणार्थी के रूप में प्रवेश कर जाते हैं।

अमेरिका के नेतृत्व में मध्य-पूर्व क्षेत्र पर नियंत्रण के लिए सीरिया, इराक़, लीबिया और अफ़ग़ानिस्तान के देशों की राजनीति में जो साम्राज्यवादी दख़ल किया गया उसके कारण वहाँ गृहयुद्ध छिड़ गया और अराजकताभरे माहौल में अनेकों लोग वहाँ से विस्थापित होकर दूसरे देशों में रहने को मजबूर हो गये। शरणार्थियों के संकट की जड़ में पूँजीवादी लूट है जो पूँजीवादी संकट के समय और विकराल होती जा रही है।

पूँजीवाद में पूँजी को बढ़ाने के लिए सस्ते से सस्ते श्रम, आसानी से उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों और उत्पाद की खपत के लिए बाज़ारों की आवश्यकता होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही विकसित देश, कम विकसित देशों में पूँजी का प्रवाह बढ़ाते हैं और निवेश करते हैं। विकसित देशों में श्रमशक्ति महँगी हो चुकी है और देशी संसाधनों की सीमाएँ होती हैं, इसलिए इन देशों के पूँजीपति कम विकसित देशों में निवेश करते हैं और वहाँ के श्रमिकों और संसाधनों के इस्तेमाल से अपना मुनाफ़ा बढ़ाते हैं। मुनाफ़ा बढ़ाने का एक और तरीक़ा जो पूरे विश्व में प्रचलित है वो है ग़रीब देशों के शरणार्थियों और आप्रवासियों को अपने देश में प्रवेश देना और उनसे कम वेतन पर ज़्यादा मज़दूरी करवाना। पूँजीवादी व्यवस्था की शुरुआत से ही सभी विकसित देशों ने अपनी नीतियों द्वारा अपनी सीमाओं को एक हद तक खुला रखा जिससे उनके लिए दूसरे देशों से आने वाले श्रमिकों की सेवा सस्ते में उपलब्ध होती रही। प्रवासी मज़दूर के आ जाने से स्थानीय मज़दूर की आय भी नियंत्रित हो जाती है और वह आय बढ़ाने की माँग नहीं रख सकता क्योंकि उसकी प्रतियोगिता के लिए उससे कम आय में काम करने के लिए प्रवासी मज़दूर मौजूद है। पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में नैसर्गिक रूप से कोई भी विकास कुछ जगहों पर ही केन्द्रित रहता है। इसलिए दो इलाक़ो के बीच, दो राज्यों के बीच और दो देशों के बीच होने वाले विकास में अन्तर रहता है और यही कारण है कि लोगों को एक जगह से दूसरी जगह रोज़गार की तलाश में पलायन करना पड़ता है।

पूँजीवादी व्यवस्था में ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सभी को रोज़गार मिल जाये और सभी के लिए जीवन की मूलभूत सुविधाएँ उपलब्ध हों। ऐसा इसलिए है क्योंकि मज़दूरों की आय कम रखने के लिए ये ज़रूरी है कि कुछ बेरोज़गार क़तारों में हमेशा रहें।

भूमण्डलीकरण के इस दौर में पूँजी के प्रवाह के सभी रास्ते खोले जा रहे हैं और मज़दूरों का पलायन भी बढ़ा है परन्तु मज़दूरों के गमनागमन पर राष्ट्र की नीतियों द्वारा नियंत्रण भी लगाये जा रहे हैं। हर देश का पूँजीपति वर्ग एक स्तर पर एकजुटता रखता है और झुण्ड में ख़ुद का फ़ायदा देखता है। उस पूँजीपति वर्ग की नुमाइंदगी करते राजनीतिक दल ये जानते हैं कि यदि बहुत ज़्यादा प्रवासी मज़दूरों को रख लिया गया तो देशी मज़दूरों में ही बेरोज़गारी इतनी बढ़ जायेगी कि राजनीतिक हड़कम्प मच जायेगा और इसलिए वो प्रवासी मज़दूरों के दाख़िले में एक सन्तुलन बनाकर चलता है। जिस हद तक प्रवासी मज़दूरों की ज़रूरत रहती है उन्हें नीतियों में बदलाव लाकर दाख़िल कर लिया जाता है।

पिछले एक दशक में शरणार्थियों और आप्रवासियों के प्रवेश को लेकर कई देशों में विरोध हुए हैं। ये इसलिए हो रहा है क्योंकि बड़े पूँजीवादी देश पूँजी के भूमण्डलीय विस्तार के बाद भी आर्थिक संकट में हैं। आर्थिक मन्दी के इस दौर में इन देशों में नौकरियों में भारी गिरावट आयी है और इस कारण वहाँ के मज़दूर प्रवासी मज़दूरों को प्रतिस्पर्द्धी के रूप में देखते हैं। वहाँ का देशी मज़दूर वर्ग ये माँग कर रहा है की उनके देश की नौकरियाँ उन्हीं को मिलें और आप्रवासियों को उनके देशों से बाहर निकाल दिया जाये। पूँजीवादी संकट के कारण ही साम्राज्यवादी हस्तक्षेप भी बढ़ा और कभी धार्मिक युद्ध तो कभी सांस्कृतिक युद्ध के रूप में प्रदर्शित हुआ जिसके फलस्वरूप शरणार्थियों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई।

पूँजीवादी मुनाफ़े की लूट के कारण ही प्रवासी और शरणार्थी पैदा हो रहे हैं और पूँजीवादी व्यवस्था का संकट ही इन्हें स्थानीय मज़दूरों के विरुद्ध खड़ा कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति ग़रीब देश में पैदा होकर अमीर देश में काम करने जाता है तो ये ना तो उस देश या उस व्यक्ति की अक्षमता है और ना ही अमीर देशों का कोई एहसान है। ऐतिहासिक तौर पर अमेरिका और यूरोप के कुछ देशों ने बाक़ी देशों का साम्राज्यवादी शोषण किया और औपनिवेशिक लूट भी हुई। यही बाद में दीर्घकालिक पूँजीवादी लूट का आधार बनी। मज़दूरों के विस्थापित होने के पीछे युद्ध, धार्मिक प्रताड़ना, ग़रीबी, पर्यावरण बदलाव, आर्थिक मन्दी इत्यादि कुछ मुख्य कारण देखने को मिलते हैं। इन सभी कारणों की पड़ताल करने पर पता चलता है कि ये सभी पूँजीवादी व्यवस्था के संकट से जुड़े हुए हैं। जैसे-जैसे पूँजीवादी आर्थिक मन्दी गहराती जा रही है वैसे-वैसे ये सभी बढ़ रहे हैं और ज़्यादा लोगों को विस्थापित कर रहे हैं। पूँजीवादी संकट के समय जब रोज़गार में भारी कमी है तब पूँजीपति वर्ग की नुमाइंदगी करती दक्षिणपन्थी राजनीतिक पार्टियाँ स्थानीय मज़दूरों को ये विश्वास दिलाती है कि उनकी नौकरी प्रवासी मज़दूर खा गये जबकि नौकरियों के घटने और बेरोज़गारी के होने के पीछे मूल कारण तो पूँजीवाद का संकट है। दक्षिणपन्थी संगठन मज़दूरों को राष्ट्रीयताओं, सांस्कृतिक भेदभाव, भाषाई अन्तर और धार्मिक भिन्नता के आधार पर बाँटने का काम करते हैं, एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा करते हैं और इस तरह पूँजीपति वर्ग की सेवा करते हैं। मज़दूरों की असली माँग ये होनी चाहिए कि चाहे वो प्रवासी हों या देशी, सभी मज़दूरों को रोज़गार और जीवन की सभी मूलभूत सुविधाएँ मिलें। असलियत तो ये ही है कि सभी मज़दूरों के अधिकार एक हैं और उनकी लड़ाई भी एक है और वह लड़ाई है इस शोषणकारी पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध।

भारत में भी दक्षिणपन्थी राजनीतिक पार्टियाँ मज़दूर वर्ग को कभी हिन्दू-मुस्लिम में बाँटती हैं तो कभी स्थानीय मज़दूर और प्रवासी मज़दूर के बीच भेदभाव की राजनीति करती हैं। भाजपा जैसी फ़ासिस्ट पार्टी तो मज़दूर वर्ग को ये विश्वास दिलाना चाहती है कि उनकी सभी समस्याओं की जड़ यहाँ काम करने वाले मुस्लिम प्रवासी हैं और उन्हें देश से बाहर करके वह सब कुछ ठीक कर देगी। पर सच्चाई तो ये है कि भाजपा पूँजीपति वर्ग की नुमाइंदगी करती है और आर्थिक संकट के दौर में मज़दूर वर्ग को धर्म के आधार पर बाँटकर पूँजीपतियों की सेवा कर रही है। मज़दूरों का हित इसमें है कि वो राष्ट्रीयताओं और धार्मिक पहचानों को किनारे रखकर अपने वर्ग के हित को देखें और सभी मज़दूरों के लिए रोज़गार और मूलभूत सुविधाओं की माँग करें। प्रवासी मज़दूर भी इस व्यवस्था से प्रताड़ित हैं और इसलिए उसके साथ सांस्कृतिक और भाषाई अन्तर होने के बावजूद किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करना चाहिए और ना ही उसके लिए नफ़रत पालनी चाहिए। स्थानीय और प्रवासी मज़दूरों में अनेकों भिन्नताओं के बावजूद एक सबसे बड़ी समानता ये है कि दोनों का पूँजीपतियों द्वारा शोषण किया जाता है और इसलिए दोनों को एकजुट होकर अपने अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रवासन के कारण अलग-अलग पृष्ठभूमि से आने वाले मज़दूरों के मिलने में एक प्रगतिशील पहलू ये है कि इस विविधता से भरी वर्गीय एकजुटता के कारण मज़दूरों के बीच व्याप्त क्षेत्रीय, भाषाई और सांस्कृतिक संकीर्णता कम होती है और उनके बीच एक वैश्विक दृष्टिकोण विकसित होता है जो अन्ततः मज़दूर वर्ग के हित में है।

## भारत में विदेशी कौन माना जायेगा?

**सवाल :** भारत में विदेशी कौन माना जायेगा?

**जवाब :** जो एनआरसी में अपनी नागरिकता साबित नहीं कर पायेगा।

**सवाल :** नागरिकता कौन साबित नहीं कर पायेगा?

**जवाब :** जिसके पास उसे साबित करने के लिए दस्तावेज़ नहीं होंगे।

**सवाल :** दस्तावेज़ किसके पास नहीं होंगे?

**जवाब :** जो पढ़ा-लिखा नहीं है, भूमिहीन है, मज़दूर है, जिसके पास रहने के लिए घर नहीं है, जो रोज़ी-रोटी के लिए गाँवों से पलायन कर शहरों में झुग्गियोंमें रहता है, जो अपने काग़ज़ात सँभाल कर रखने की क्षमता नहीं रखता, जो फ़र्ज़ी काग़ज़ात नहीं बनवा सकता।

**सवाल :** ये कौन लोग हैं?

**जवाब :** सभी वर्ग के ग़रीब, अनपढ़, आदिवासी, दलित, अति पिछड़े।

**सवाल :** जो विदेशी घोषित होगा उसका क्या होगा?

**जवाब :** पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान या बंगलादेश से आये हिन्दू, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी को नागरिकता दी जायेगी लेकिन मुसलमानों को नागरिकता नहीं दी जायेगी।

**सवाल :** मुसलमानों और उन ग़ैर-मुस्लिमों को कहाँ भेजा जायेगा जो पाकिस्तान, बंगलादेश या अफ़ग़ानिस्तान के उक्त अल्पसंख्यक नहीं हैं?

**जवाब :** कहीं नहीं, बस उन्हें डिटेंशन कैम्पों में रखा जायेगा क्योंकि कोई देश उन्हें लेने के लिए राज़ी नहीं होगा और उनको कोई अधिकार प्राप्त नहीं होंगे।

**सवाल :** क्या सरकार ने किसी देश से उसके नागरिकों के भारत में घुसपैठ के बारे में बात की है?

**जवाब :** नहीं, बल्कि बंगलादेश की प्रधानमंत्री को आश्वस्त किया गया है कि एनआरसी से उन्हें चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है।

**सवाल :** लेकिन अमित शाह तो बार-बार कहते हैं कि हिन्दुओं को चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है?

**जवाब :** जो हिन्दू एनआरसी में अपना नाम शामिल नहीं करा पायेंगे उनके लिए एक ही रास्ता होगा कि वे लिखित दें कि वे पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान या बंगलादेश के नागरिक थे और धार्मिक उत्पीड़न के चलते पलायन कर भारत आ गये।

**सवाल :** अगर अनागरिक घोषित किये गये उन ग़ैर-मुस्लिमों की संख्या उन देशों में बसने वाले अल्पसंख्यकों से अधिक हुई तो?

**जवाब :** सरकार जाने, हो सकता है उन्हें भी उन लोगों को भी डिटेंशन कैम्पों में डाल दिया जाये।

**सवाल :** मतलब?

**जवाब :** मतलब यह कि उन तीन देशों में हिन्दू, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी की जितनी संख्या थी उनमें जो वहाँ रह गये उनकी संख्या घटाने के बाद जो संख्या बचेगी, माना जायेगा कि सब भारत में घुसपैठ कर गये। अगर उससे अधिक लोग अनागरिक साबित होते हैं तो हो सकता है किसी अन्य देश के माने जायें और हो सकता है कि वे भी डिटेंशन कैम्पों में रहें।

**सवाल :** इस तरह नागरिकता पाने वालों की हैसियत क्या बनेगी?

**जवाब :** डिटेंशन कैम्प में जाने का दंश झेलने के बजाय अपमान का घूँट पीकर नागरिकता स्वीकार करनी पड़ेगी।

**सवाल :** जिन समाज के लोगों को आरक्षण समेत कई सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त हैं, नये नागरिक के बतौर उनका क्या होगा?

**जवाब :** सरकार की कृपा का इन्तज़ार, कुछ मिला तो ठीक, नहीं तो...।

**सवाल :** लेकिन सरकार में मंत्री, संतरी, सत्ता दल के नेता कार्यकर्ता सब तो केवल यही कह रहे हैं कि मुसलमानों को चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है?

**जवाब :** उन्होंने तो संसद में उन देशों के अल्पसंख्यकों के आँकड़े तक ग़लत पेश किये हैं। मुसलमान हों या ग़ैर-मुस्लिम, मन कहे तो भरोसा कर लें।

**– मसीहुद्दीन संजरी**

(फ़ेसबुक पोस्ट से साभार)

# वर्ष 2019 : दुनियाभर में व्यवस्था-विरोधी व्यापक जनान्दोलनों का वर्ष

## लेकिन क्या ये आन्दोलन व्यवस्था बदल सकेंगे?

**– आनन्द सिंह**

वर्ष 2019 में एशिया, अफ़्रीका, लैटिन अमेरिका व यूरोप के कई देशों में बहुत बड़ी तादाद में जनता सड़कों पर उतरी। ये जनान्दोलन इतने व्यापक थे कि तमाम प्रतिष्ठित बुर्जुआ मीडिया हाउस और थिंकटैंक भी 2019 को वैश्विक विद्रोह का वर्ष घोषित कर रहे हैं। ज़ाहिरा तौर पर वे ऐसा शासक वर्ग को चेताने की मंशा से कर रहे हैं। लेकिन हमें मज़दूर वर्ग के दृष्टिकोण से इन जनान्दोलनों का महत्व समझना होगा और इनमें निहित सम्भावनाओ पर विचार करना होगा। इस साल हांगकांग, इराक़, ईरान, लेबनान, मिस्र, चिले, सूडान, अल्जीरिया और फ़्रांस आदि की सड़कों पर विशाल जनसैलाब उमड़ पड़ा। इन आन्दोलनों की तात्कालिक वजहें भले ही अलग-अलग रही हों, लेकिन इन्हें विश्व-पूँजीवाद के संकट से काटकर नहीं देखा जाना चाहिए।

हांगकांग की सड़कों पर उमड़े जनसैलाब की तात्कालिक वजह विवादास्पद सुपुर्दगी क़ानून था जिसके तहत हांगकांग में होने वाले किसी भी अपराध के लिए अभियुक्त को चीन को सुपुर्द किया जा सकता था और उस पर चीन की कुख़्यात अदालतों में मुक़दमा चलाया जा सकता था जहाँ 90 प्रतिशत मामलों में अभियुक्त को दोषी ठहराकर सज़ा दे दी जाती है। हांगकांग के लोगों को यह अपने शहर के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप लगा और उसके ख़िलाफ़ जनता सड़कों पर उतर पड़ी। इस आन्दोलन में बड़ी संख्या युवाओं और किशोरों की थी। शहर की ट्रेड यूनियनों के आह्वान पर भी लाखों लोग सड़कों पर उतरे। इस जनान्दोलन को बर्बरतापूर्वक पुलिसिया दमन से कुचल देने की तमाम कोशिशें नाकाम रहीं और आन्दोलनकारियों ने पुलिस की आँखों में धूल झोंकने के शानदार नये-नये प्रयोग भी आज़माये। हाँलाकि इस जनसैलाब के आक्रोश की आग पर ठण्डे पानी के छींटे डालने के लिए हांगकांग के प्रशासन ने विवादास्पद सुपुर्दगी क़ानून वापस ले लिया, लेकिन उसके बाद भी यह जनान्दोलन थमा नहीं, बल्कि उसने और व्यापक रूप अख़्तियार कर लिया। बाद में प्रदर्शनकारी पुलिस के बर्बर दमन और हांगकांग में चीन के बढ़ते प्रभाव के ख़िलाफ़ प्रदर्शन करने लगे। ग़ौरतलब है कि इन प्रदर्शनों में इतने बड़े पैमाने पर जनभागीदारी को हांगकांग में चल रहे आर्थिक संकट की पृष्ठभूमि में रखकर ही समझा जा सकता है। हांगकांग की गिनती दुनियाभर में आर्थिक असमानता वाले शहरों में सबसे ऊपर के पायदानों में होती है। साथ ही दुनिया के सबसे महँगे शहरों में भी हांगकांग की गिनती होती है। वहाँ सिर्फ़ ग़रीब ही नहीं बल्कि औसत मध्यवर्ग के लोग भी बड़ी मुश्किल से इन हालातों को झेल रहे हैं। ऐसे में चीन का हस्तक्षेप उनके ज़ख़्म में नमक डालने का काम करता है।

लेबनान की सड़कों पर भी इस साल विराट जनसैलाब देखने को आया। वहाँ की सरकार द्वारा व्हाट्सऐप के इस्तेमाल पर लगाये गये भारी कर के बाद उमड़े इस जनान्दोलन ने देखते ही देखते आर्थिक तंगी और संकट के ख़िलाफ़ जनविद्रोह का रूप ले लिया। आन्दोलन के कुछ दिनों में क़रीब 13 लाख लोग यानी वहाँ की कुल आबादी के 20 फ़ीसदी लोग सड़कों पर उतरे। 2005 की 'देवदार क्रान्ति' के बाद पहली बार इतनी बड़ी संख्या में लोग बेरूत और त्रिपोली की सड़कों पर उतरे। लेबनान की भी अर्थव्यवस्था ढहने की कगार पर है। वहाँ का राष्ट्रीय क़र्ज़ जीडीपी का 150 फ़ीसदी से भी ज़्यादा पहुँच चुका है और वहाँ की मुद्रा का लगातार अवमूल्यन होता जा रहा है। महँगाई और बेरोज़गारी चरम पर है।

इसी प्रकार चिले में भी राजधानी सैंटियागो के मेट्रो रेल के टिकट के किराये में बढ़ोत्तरी के विरोध में शुरू हुए छात्रों-युवाओं के आन्दोलन ने जल्द ही एक व्यवस्था-विरोधी व्यापक रूप ले लिया। इस आन्दोलन के निशाने पर भी अर्थव्यवस्था का संकट, मज़दूरी में कटौती, कल्याणकारी योजनाओं में कटौती, लचर सार्वजनिक सुविधाएँ जैसे मुद्दे थे। इसकी व्यापकता का अन्दाज़ा इस बात से ही लगाया जा सकता है कि चिले की दक्षिणपन्थी सरकार को उसको कुचलने के लिए हज़ारों फ़ौजियों को सैंटियागो की सड़कों पर उतारना पड़ा। लेकिन उससे आन्दोलन और व्यापक हो गया। अन्ततः वहाँ की सरकार को घुटने टेकने पड़े।

इसके अलावा पिछले साल इराक़, इरान, स्पेन, फ़्रांस, अल्जीरिया, सूडान में भी ज़बर्दस्त आन्दोलन देखने में आये और उनका बर्बर दमन करने की रक्तपातपूर्ण कोशिशों में सैकड़ों लोगों को जान गँवानी पड़ी। तमाम बुर्जुआ विश्लेषक इन आन्दोलनों के भड़कने की अलग-अलग वजह होने के आधार पर ये दावा कर रहे हैं कि इनमें कोई समानता नहीं खोजी जा सकती है और इनके आधार पर कोई सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। ये बात सच है कि उपरोक्त आन्दोलनों के भड़कने के तात्कालिक कारण अलग-अलग देशों में अलग-अलग रहे हैं, लेकिन यह भी सच है कि इनमें एक चीज़ साझा है कि वे सभी पूँजीवादी संकट और दमनकारी पूँजीवादी राज्यसत्ता के विरुद्ध जनविद्रोह की अभिव्यक्तियाँ हैं। इतिहास में अक्सर ऐसा देखने में आया है कि सामाजिक-आर्थिक संकट के परिवेश में एक मामूली-सी लगने वाली घटना भी एक बड़े आन्दोलन को ट्रिगर कर सकती है। ठीक यही बात इन आन्दोलनों पर भी लागू होती है। भूमण्डलीकरण के युग में आज पूँजीवाद सच्चे अर्थों में एक वैश्विक उत्पादन प्रणाली का रूप अख़्तियार कर चुका है। ऐसे में पूँजीवाद के संकट के भूमण्डलीकृत रूप के हम गवाह हैं। विश्व पूँजीवाद 2007-08 से जिस संकट के भँवर में फँसा हुआ है उससे अभी तक बाहर नहीं निकल पाया है। मुनाफ़े की गिरती दर के इस संकट का असर समूची दुनिया में मन्दी, छँटनी, बेरोज़गारी, महँगाई के रूप में देखने को आ रहा है। ये बात सच है कि उत्पादक शक्तियों के विकास की अलग-अलग मंज़िलों में होने और अलग-अलग इतिहास होने के कारण संकट का असर भी अलग-अलग-देशों में अलग-अलग होता है। लेकिन भूमण्डलीकरण के युग में न सिर्फ़ संकट का सार्वभौमिकीकरण हो रहा है बल्कि वैश्विक स्तर पर सूचनाओं, विरोध के तौर-तरीक़ों का भी आदान-प्रदान अभूतपूर्व रूप से हो रहा है।

एक अन्य चीज़ जो इन विरोध प्रदर्शनों में साझा है वह यह है कि इन सभी आन्दोलनों में स्वतःस्फूर्तता का पहलू बहुत अधिक है। इन आन्दोलनों में संगठनबद्धता, सुसंगत विचारधारा और नेतृत्व का अभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस वजह से इन आन्दोलनों में भीड़ तो बहुत दिखती है लेकिन शासक वर्ग के लिए इस भीड़ को क़ाबू में करना भी आसान हो जाता है। जब दमन से बात नहीं बनती तो शासक वर्ग कूटनीतिक पैंतरा फेंककर आन्दोलनकारियों की कुछ तात्कालिक माँगों को मान लेते हैं और किसी दीर्घकालिक रणनीति के अभाव में ये आन्दोलन समय के साथ क्षीण हो जाते हैं। बेशक ये स्वतःस्फूर्त आन्दोलन संकटग्रस्त पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ विद्रोह की अभिव्यक्तियाँ हैं, परन्तु ये ख़ुद-ब-ख़ुद व्यवस्था परिवर्तन नहीं कर सकते हैं। दूसरे अर्थों में संगठन, विचारधारा और नेतृत्व के अभाव में ये विद्रोह क्रान्ति की दिशा में नहीं बढ़ सकते हैं। वे वैकल्पिक व्यवस्था नहीं निर्मित कर सकते हैं क्योंकि उनके पास विकल्प का कोई ख़ाका नहीं है। ऐसे में मेहनतकश वर्ग की नुमाइंदगी करने वालों का यह दायित्व बन जाता है कि ऐसे आन्दोलनों के साथ एकजुटता ज़ाहिर करने के साथ ही साथ लोगों को एक वैकल्पिक व्यवस्था के निर्माण हेतु जनक्रान्ति के लिए तैयार किया जाये।

# पुलिस पर फूलों की वर्षा करने से पहले ज़रा ठहरकर सोचें

## पुलिस हमारी रक्षक है या इस लुटेरी व्यवस्था की रक्षा में तैनात दमन-उत्पीड़न का हथियार?

**– रूपा**

हैदराबाद में पिछले महीने जिस युवा स्त्री डॉक्टर के साथ दरिन्दगी हुई, उसके परिजन जब मदद के लिए पुलिस के पास गये तो 10 घण्टे तक पुलिस उन्हें यहाँ-वहाँ दौड़ाती रही। चारों ओर से हो रही थू-थू के बीच अचानक ख़बर आयी कि पुलिस ने घटना के चारों आरोपियों को मुठभेड़ में मार गिराया। पुलिस की बतायी कहानी साफ़ तौर पर फ़र्ज़ी एनकाउण्टर की ओर इशारा कर रही थी मगर फिर भी देश में मध्यवर्गीय सफ़ेदपोशों के साथ ही प्रगतिशील माने जाने वाले अनेक बुद्धिजीवी भी पुलिस की शान में क़सीदे पढ़ते हुए पाये गये। हद तो तब हो गयी जब पुलिस पर फूल बरसाये गये।

हालाँकि इसके कुछ ही दिन बाद भाजपा विधायक कुलदीप सेंगर को अदालत ने बलात्कार का दोषी ठहरा दिया। लेकिन अब कोई नेता या टीवी चैनल यह माँग नहीं उठा रहा है कि इसे भी गोली से उड़ा दिया जाना चाहिए! ज़ाहिर है, कोई भी इंसाफ़पसन्द व्यक्ति न इस माँग का समर्थन करेगा और न ही हैदराबाद के एनकाउण्टर का। हैदराबाद में जो कुछ हुआ वह ऐसी घटनाओं पर भड़के लोगों के ग़ुस्से को शान्त करने और पूरे मामले की लीपापोती करने की एक बर्बर कोशिश ही थी। पुलिस के लिए ऐसा करना आसान था क्योंकि पकड़े गये लोग सामज के हाशिए के लोग थे, किसी रसूखदार परिवार की औलादें नहीं थे।

न्यायपालिका की अँधेरगर्दी से त्रस्त होकर अब तमाम लोग पुलिसिया 'त्वरित न्याय' की वकालत करने लगे हैं। लेकिन ज़रा ठण्डे दिमाग़ से सोचने पर पुलिस के असली चरित्र को समझने में देर नहीं लगेगी।

कहने को तो पुलिस का काम समाज में क़ानून व्यवस्था बनाये रखना और लोगों की रक्षा करना है। लेकिन सच्चाई ठीक इसके विपरीत है। 'सुरक्षा आपकी, ज़िम्मेदारी हमारी' जैसे नारे सुनने में तो ख़ूब लुभावने लगते हैं। लेकिन हाल ही की एक घटना (जिसका ज़िक्र बहुत कम हुआ) कुछ और ही बयान करती है। उत्तर प्रदेश के हापुड़ में प्रदीप नाम के नौजवान को एक महिला की हत्या के मामले की पूछताछ के लिए पुलिस ने थाने में बुलाया और उसकी बेदर्दी से पाँच घण्टे तक पिटाई की जिससे उसकी मौत हो गयी। ऐसे प्रदीप जैसे लोग हमारे समाज में अक्सर ही पुलिस के दमनीय रवैये के चलते मरते रहते हैं और यातनाएँ सहते रहते हैं। लेकिन उन घटनाओं का ज़िक्र कम ही होता है या अधिकतर नहीं ही होता है। वर्ष 2017 में गुजरात के साबरकांठा ज़िले में 60 वर्षीय कोदर को कथित बैलहत्या के एक मामले में गिरफ़्तार किया गया, जिसकी पुलिस हिरासत में मौत हो गयी।

छात्र-युवा आन्दोलनों एवं मज़दूरों के आन्दोलनों को बर्बरता से कुचलने का पुलिस को ख़ास प्रशिक्षण दिया जाता है। हाल ही में जेएनयू में फ़ीस बढ़ोतरी को लेकर छात्रों के आन्दोलन का दिल्ली पुलिस ने बर्बरता से दमन किया। पुलिस की मार से सैकड़ों छात्र-छात्राएँ बुरी तरह से घायल हो गये। पटना के बीएन कॉलेज में एक छात्रा के गैंगरेप के विरोध में उतरे छात्र-छात्राओं को पुलिस ने बुरी तरह पीटा और उन्हें हवालात में बन्द कर दिया, जैसे कि वही दोषी हों। देशभर में नागरिकता संशोधन विधेयक के विरोध में छात्रों, नौजवानों, महिलाओं के विरोध-प्रदर्शनों पर जिस तरह पुलिस कहर बरपा कर रही है क्या उसमें कहीं से भी पुलिस का रक्षक चेहरा दिखायी देता है? दिल्ली में जामिया मिल्लिया इस्लामिया में पुलिस ने जो आतंक फैलाया क्या वह लोगों की रक्षा के मक़सद से था? जिस बर्बरता से पुलिस ने होण्डा और मारूति सहित मज़दूरों के अनगिनत आन्दोलनों को कुचला, क्या उनमें कहीं भी पुलिस का मानवीय चेहरा किसी को नज़र आता है? जिस तरीक़े से इस देश के मुस्लिमों, दलितों और आदिवासियों पर किसी न किसी बहाने से पुलिस का डण्डा बरसता है क्या पुलिस किसी भी रूप में रक्षक नज़र आती है?

गिनाने को सैकड़ों नहीं हज़ारों घटनाएँ गिनायी जा सकती हैं, जिनमें पुलिस का रक्षक चेहरा बेनक़ाब हो जाता है और फिर पुलिस का जो चेहरा सामने आता है वह रक्षक का नहीं भक्षक का होता है। इस चेहरे को देखने के बाद पता चलता है कि पुलिस का काम कुछ और ही है। वह एक तरफ़ ग़रीबों, मज़लूमों को क़ानून का भय दिखाकर उनसे पैसा ऐंठती है, वहीं दूसरी तरफ़ पैसे वालों के फेंके गये रुपयों-पैसों को उठाकर उनके इशारों पर नाचने का काम भी करती है। जब देश की जनता रोज़ी-रोटी के सवाल पर सड़कों पर उतरती है, तब डण्डे के दम पर जनता की आवाज़ को दबाने के लिए सबसे पहले पुलिस ही आती है। मज़दूर आन्दोलनों को बर्बरता के साथ कुचलना, जनता के अधिकारों की रक्षा की जगह उनका हनन करना यह सब पुलिस का रोज़मर्रे का काम है। वैसे तो आतंकवादी गतिविधियों को रोकना पुलिस का काम बताया जाता है, लेकिन जब पुलिस ख़ुद ही आतंक का राज्य क़ायम करे तो उसे क्या कहा जा सकता है?

भारत में पुलिस का ढाँचा औपनिवेशिक क़ानून पर आधारित है। एक बात ग़ौर करने की है कि अंग्रेज़ी राज में लोगों को प्रताड़ित करने, तरह-तरह से यातना देने, थर्ड डिग्री टॉर्चर के ज़रिये लोगों को टॉर्चर करने के तमाम दमनकारी क़ानून लागू थे जो आज भी लागू हैं। एक बड़ा सवाल यह है कि ऐसे क़ानून अब तक हटाये क्यों नहीं गये। क्या सरकार को अब भी इन क़ानूनों के सहारे की ज़रूरत है। अंग्रेज़ों के लिए भारत देश की जनता आतंकवादी थी, लेकिन क्या भारत सरकार के लिए भी भारत की जनता आतंकवादी है?

**(पेज 12 पर जारी)**

# आम लोगों को मौत और ग़रीबी में धकेलती चिकित्सा सेवाएँ

**– अनुपम**

इस बात से शायद ही कोई इन्कार करेगा कि आज के दौर में रोटी, कपड़ा और मकान के साथ ही साथ शिक्षा और स्वास्थ्य भी इन्सान की मूलभूत ज़रूरत हैं। केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री हर्षवर्धन ने हाल ही में यह दावा किया कि केन्द्र सरकार 2025 तक जीडीपी में स्वास्थ्य के हिस्से को 1.02 प्रतिशत से बढ़ाकर 2.5 प्रतिशत करने की मंशा रखती है। ग़ौरतलब है कि 2009 से भारत में जीडीपी का स्वास्थ्य पर प्रतिशत ख़र्च पिछले दस सालों से लगभग एक ही जैसा बना हुआ है। यह प्रतिशत ख़र्च भारत से काफ़ी छोटी अर्थव्यवस्था वाले देश श्रीलंका में पहले से ही भारत की अपेक्षा चार गुना है और इंडोनेशिया में दोगुना। इस वायदे से कुछ लोगों को आस जग सकती है। हम जानते हैं कि मोदी सरकार जब जीडीपी के आँकड़े फ़र्ज़ी ज़ाहिर कर सकती है तो स्वास्थ्य ख़र्च में बढ़त दिखाना भी उसके लिए बायें हाथ का खेल है। लेकिन आगामी 7 सालों में अगर वास्तव में स्वास्थ्य पर ख़र्च 2.5 प्रतिशत हो जाता है तो भी वह विश्व के औसत यानी 6 प्रतिशत से बहुत कम ही होगा।

हाल ही में जारी राष्ट्रीय स्वास्थ्य खाता (नेशनल हेल्थ अकाउण्ट) की एक रिपोर्ट में यह दिखाया गया है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं पर केन्द्र व राज्य सरकारें मिलकर जितना ख़र्च करती हैं वह मरीज़ों द्वारा किये गये कुल ख़र्च का मात्र 39 प्रतिशत होता है। यानी 61 फ़ीसदी ख़र्च लोगों को अपनी जेब से ही करना होता है। ऐसे में अगर 2025 तक स्वास्थ्य पर ख़र्च 2.5 प्रतिशत हो भी जाता है तो भी मरीज़ों पर पड़ने वाले बोझ से मुक्ति नहीं मिलने वाली।

ग़ौरतलब है कि पूरे एशिया में सबसे अधिक मलेरिया के मरीज़ भारत में ही हैं। टीबी की बीमारी के हारने का दावा कई सालों से टीवी पर विज्ञापन के ज़रिये किया जा रहा है, लेकिन अभी भी टीबी रोगियों की सबसे ज़्यादा संख्या भारत में ही रहती है। जापानी इंसेफ़लाइटिस और चमकी बुखार का प्रकोप भी हर साल देश के बच्चों पर कहर ढाता है। पिछले कुछ सालों में यह भी देखा गया है कि कैंसर जैसी गम्भीर बीमारी भी भारत में तेज़ी से अपने पैर पसार रही है। देश में कैंसर रोगियों की संख्या में हर साल 12 लाख से भी ज़्यादा की वृद्धि होती है। ऐसे में जनता की रोज़ी-रोटी और दवा-इलाज को ख़ुद ही बन्द करवाने में लगे इन हुक्मरानों का यह कहना कि स्वास्थ्य व्यवस्था में सुधार कर देंगे, यह एक जुमला ही है। कोई मूर्ख ही शायद इस पर विश्वास करेगा कि अस्पताल में ऑक्सीजन की कमी की वजह से बच्चों को मार देने वाले लोग स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार कर देंगे।

मोदी सरकार के विकास के फ़ार्मूले का ककहरा निजीकरण से शुरू होता है। स्वास्थ्य सेवाओं की बेहतरी के लिए ईज़ाद की गयी आयुष्मान योजना भी ऐसी ही है। यह बीमा आधारित योजना है जिसे 6,400 करोड़ रुपये की निधि सरकार द्वारा दी गयी है। हर बीमा योजना की तरह यह योजना भी लोगों की गाढ़ी कमाई को बाज़ार के हवाले और निजी कम्पनियों के हवाले कर देने का औज़ार है। देश के विभिन्न हिस्सों में आयुष्मान कार्ड ग्राहकों के अनुभव बताते हैं कि यह कार्ड ज़्यादातर मामलों में किसी काम नहीं आता क्योंकि इस योजना के तहत जिन अस्पतालों को पैनल में शामिल किया गया है उनकी संख्या बहुत कम है और सरकारी अस्पतालों में बहुत लम्बी लाइन लगी रहती है।

निजीकरण के रास्ते स्वास्थ्य सेवाओं में बेहतरी के सब्ज़बाग़ दिखाने वाली मोदी सरकार के नुमाइन्दे हमें ये नहीं बताते कि हाल के दशकों में निजीकरण से ख़ासकर ग़रीबों और मेहनतकशों की पहुँच से स्वास्थ्य सुविधाओं क्यों लगातार दूर होती गयी हैं। आइए कुछ आँकड़े देखते हैं –

1) राष्ट्रीय सांख्यिकी आयोग द्वारा जुलाई-जून 2017-18 की अवधि में किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार निजी अस्पतालों में इलाज कराने का औसत ख़र्च सरकारी अस्पताल में करवाने पर लगने वाले इलाज के ख़र्च का सात गुना है। 1.13 लाख परिवारों पर हुए इस सर्वेक्षण में जहाँ सरकारी अस्पतालों में इलाज करवाने पर औसत ख़र्च 4,452 पाया गया जबकि निजी अस्पतालों में इलाज का औसत ख़र्च 31,845 था।

2) आर्थिक सर्वेक्षण 2015-16 के तहत जनवरी से जून 2014 की अवधि में निजी अस्पतालों का औसत ख़र्च (शिशु जन्म सम्बन्धी ख़र्च के अतिरिक्त) सरकारी अस्पतालों की तुलना में चार गुना पाया गया।

3) देश में अधिकतर स्वास्थ्य सुविधाएँ पहले से ही आम जनता के बजट के बाहर हैं। प्रतिवर्ष पाँच करोड़ पचास लाख की आबादी स्वास्थ्य सम्बन्धी ख़र्चों के कारण ग़रीबों की जमात में शामिल हो जाती है।

ऐसे में बची-खुची सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली को भी निजी हाथों में सौंपकर सरकार जनता की आख़िरी बैसाखी भी छीन लेना चाहती है। हमें और आपको इसका पता न चले इसलिए सहारे के नाम पर झूठा दिलासा इस बात का दिया जाता है कि सरकार की नीयत में कोई खोट नहीं है तभी तो टीवी, रेडियो और अख़बार तक में यही दिखाया, सुनाया और लिखा जा रहा है कि भारत की दुनिया में साख बन रही है। हमारे प्रधान सेवक अमेरिका से भी यह घोषणा कर चुके हैं कि 'भारत में सब चंगा सी'।

पर नंगी सच्चाई यह है कि पिछड़ी स्वास्थ्य व्यवस्था के चलते पूरी दुनिया में भारत की भद्द पिट चुकी है। मानव पूँजी सूचकांक के मामले में भारत 195 देशों की सूची में 158वें पायदान पर है। एक अन्य वैश्विक मानक स्वास्थ्य सेवा और सुलभता एवं गुणवत्ता सूचकांक में भारत को 145वाँ स्थान मिला हुआ है जो कि बांग्लादेश से भी नीचे का है। चिकित्सा क्षेत्र की प्रसिद्ध पत्रिका 'लैंसेट' में छपी एक रिपोर्ट में तो पाकिस्तान सहित अपने सभी पड़ोसी देशों को पछाड़कर भारत सही देखभाल के अभाव में होने वाली मौतों के मामले से सबसे आगे निकल गया है। इस रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रति एक लाख में 122 लोग अस्पताल तक पहुँचने के बाद भी सही देखभाल के अभाव में मर जाते हैं। पाकिस्तान, चीन, बांग्लादेश, श्रीलंका और नेपाल में यह संख्या क्रमशः 119, 46, 57, 51 और 93 है। यही तो हक़ीक़त है इस विश्वगुरु देश की!

मोदी सरकार ने 2014 में सत्ता में आते ही 'पोषण निगरानी बोर्ड' को ही ख़त्म कर दिया। न रहेगा आँकड़ा, न होगा बवाल! अब चूँकि इस बोर्ड के आँकड़े उपलब्ध ही नहीं हैं, इसलिए हम स्वास्थ्य सेवाओं की हालत को समझने के लिए 'इण्डिया स्टेट लेवल बर्डन इनीशिएटिव' के तहत जुटाये गये बच्चों और माँओं के कुपोषण के बढ़ते बोझ के आँकड़े यहाँ दे रहे हैं।

इस इनीशिएटिव के तहत देश में 1990 से लेकर 2017 तक बच्चों और माँओं के पोषण से सम्बन्धित आँकड़े जुटाये गये और पाया गया कि देश की 54 प्रतिशत महिलाएँ ख़ून की कमी की शिकार हैं और 60 प्रतिशत बच्चे भयंकर कुपोषण की चपेट में हैं। हालत यह है कि वर्ष 2015-16 में पाया गया कि पाँच वर्ष से कम उम्र के 38.4 प्रतिशत बच्चे अपनी उम्र से अनुपात में छोटे थे और 35.4 प्रतिशत बच्चे कम वज़न के थे।

लोगों को स्वच्छता का पाठ पढ़ाने वाली मोदी सरकार अभी तक सभी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में शौचालय की सुविधा नहीं उपलब्ध करा सकी है। अभी तक देश में 72,045 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र ऐसे हैं जहाँ एक भी शौचालय नहीं है और 1,15,484 स्वास्थ्य केन्द्रों में महिलाओं और पुरुषों के लिए अलग-अलग शौचालय नहीं हैं।

ऐसे में स्वास्थ्य के अपने मूलभूत अधिकार के लिए लड़ने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचता है। क्योंकि नहीं लड़ने पर रहे-सहे अधिकार भी छीन लिये जायेंगे और बदहाल स्वास्थ्य सेवाओं के कारण भारत में लाखों-लाख बच्चों और महिलाओं की बलि इस मानवद्रोही व्यवस्था में यूँ ही चढ़ती रहेगी।

### 21 जीवनरक्षक दवाएँ होंगी 88 प्रतिशत तक महँगी

'अमर उजाला' की 14 दिसम्बर की ख़बर के मुताबिक़ आम आदमी की ज़रूरत की 21 जीवनरक्षक दवाइयाँ महँगी होने वाली हैं। केन्द्र सरकार ने इन दवाओं की क़ीमतों में 50 फ़ीसदी बढ़ोत्तरी की मंज़ूरी दे दी है। इसमें एंटीबॉयोटिक, एंटी अलर्जिक, एंटी मलेरिया दवाएँ, बच्चों को लगने वाले बीसीजी टीके, पेंसिलिन, विटामिन सी और गुर्दे की बीमारियों की दवाओं के सीलिंग प्राइस में बढ़ोत्तरी होगी। सीलिंग प्राइस वह कण्ट्रोल कीमत होती है जिससे अधिक पर कोई उत्पाद नहीं बेचा जा सकता है।

केंद्र सरकार के अधीन संस्था एनपीपीए ने ड्रग्स प्राइस कण्ट्रोल ऑर्डर 2013 में संशोधन करते हुए क़ीमतों में बढ़ोत्तरी की मंज़ूरी दी है। पहले इस नियम का इस्तेमाल केवल दवाओं की क़ीमतों में कमी करने के लिए किया जाता था। इससे कुछ दवाएँ 88 प्रतिशत तक महँगी हो जायेंगी।

# पुलिस हमारी रक्षक है या इस लुटेरी व्यवस्था की रक्षा में तैनात दमन-उत्पीड़न का हथियार?

**(पेज 11 से आगे)**

पुलिसवालों को जनता के सेवक के रूप में पेश आने का प्रशिक्षण मिलने की बजाय उन्हें जनता पर हमला करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। देश में ब्रिटिश शासन के ख़त्म होने के सात दशक बाद भी पुलिस प्रणाली जस-की-तस बनी हुई है। पुलिस में 85 फ़ीसदी कर्मचारी कान्स्टेबल हैं जबकि आपराधिक शिकायतों की जाँच के लिए उन्हें उचित प्रशिक्षण तक नहीं मिलता है। हक़ीक़त तो यह है कि पुलिसवालों का प्रशिक्षण और उनके काम की स्थितियाँ उनकी मानसिकता को मानवद्रोही, बीमार और हिंसक बना देती हैं। ऐसे में जनता उनके लिए शिकार होती है और वे हिंसक शिकारी!

सरकारी आँकड़े बताते हैं कि पुलिस की बर्बरता साल-दर-साल बढ़ती जा रही है। 'एशियाविल' की एक रिपोर्ट के अनुसार केन्द्रीय गृह राज्य मंत्री जी किशन रेड्डी ने लोकसभा में लिखित जवाब में बताया कि 2016 से लेकर 2018 के दौरान हर साल पुलिस कस्टडी में टॉर्चर के मामलों में बढ़ोतरी हुई है। ये वो आँकड़े हैं जिन्हें राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने पुलिस के ख़िलाफ़ लगे आरोपों के बाद सच पाया। हिरासत में पुलिस बर्बरता के ख़िलाफ़ 2016 में देशभर में कुल 429 मामले दर्ज हुए, 2017 में ये संख्या बढ़कर 520 और 2018 में 541 तक पहुँच गयी।

मानवाधिकार आयोग द्वारा संज्ञान लेने के बावजूद पुलिस के मंसूबों में कमी नहीं आयी। अलबत्ता पुलिस और ज़्यादा बेलगाम हो गयी। सरकारी आँकड़ों में बड़े राज्यों की पुलिस का क्रूर चेहरा सामने आता है। उत्तर प्रदेश, दिल्ली और हरियाणा की पुलिस इस मामले में सबसे बदतर है। 2018 में पुलिस हिरासत में हुई कुल 541 यातनाओं में से अकेले उत्तर प्रदेश में 269 मामले दर्ज हुए. इसके बाद दिल्ली में 51, हरियाणा में 39, बिहार में 30, राजस्थान में 24 और ओडिशा में 18 मामले दर्ज हुए। इनमें से हर राज्य की लगभग ऐसी ही कहानी है। 2018 में उत्तराखण्ड में टॉर्चर के मामलों में दोगुनी बढ़ोत्तरी देखने को मिली। 2017 में यहाँ 8 ऐसे मामले सामने आये थे, लेकिन 2018 में यह संख्या बढ़कर 16 हो गयी।

लेकिन इन मामलों में पीड़ितों को न्याय नहीं मिला। आँकड़े बताते हैं कि 2016 से लेकर 2018 के दौरान देश में पुलिसिया यातनाओं के कुल 1,490 मामले सामने आये, लेकिन इन मामलों में से सिर्फ़ 9 में पीड़ितों को मुआवज़ा मिला। सरकार ने इन तीन वर्षों में पुलिसिया टॉर्चर के शिकार पीड़ितों को मात्र 11 लाख 60 रुपये की मदद दी। उत्तर प्रदेश में पाँच मामलों में सबसे ज़्यादा 7 लाख 75 हज़ार रुपये का मुआवज़ा दिया गया, दिल्ली में 2 मामलों में 60 हज़ार रुपये का, मध्य प्रदेश में एक मामले में 3 लाख रुपये का और राजस्थान में एक मामले में 25 हज़ार रुपये का मुआवज़ा मिला। यानी सिर्फ़ चार राज्यों में ही पीड़ितों को सरकार ने मदद पहुँचायी, वह भी नाम मात्र की।

सबसे ज़्यादा हैरत की बात यह है कि इन 1,490 मामलों में सरकार ने सिर्फ़ एक पुलिस कर्मी पर अनुशासनात्मक कार्रवाई की। यह कार्रवाई राजस्थान में हुई। राजस्थान में इन तीन वर्षों में कुल 95 मामले सामने आये। बाक़ी किसी भी राज्य में किसी भी पुलिसकर्मी के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं हुई।

मानवाधिकार संस्था 'ह्यूमन राइट्स वॉच' की एक रिपोर्ट के मुताबिक़ साल 2010 से 2015 के बीच भारत में पुलिस हिरासत में तक़रीबन 600 लोगों की मौत हुई है, लेकिन किसी भी मामले में किसी पुलिसकर्मी को कोई सज़ा नहीं मिली। 114 पन्नों की इस रिपोर्ट में बताया गया है कि पुलिस हिरासत में होने वाली मौतों का कारण अक्सर बीमारी, भागने की कोशिश, ख़ुदकुशी और दुर्घटना बताती है।

इस रिपोर्ट में सरकारी आँकड़ों के हवाले से दावा किया गया है कि 2015 में पुलिस हिरासत में हुई 97 मौतों में से 67 में पुलिस ने या तो सन्दिग्ध को 24 घण्टे के भीतर मजिस्ट्रेट के सामने पेश ही नहीं किया या फिर सन्दिग्ध की गिरफ़्तारी के 24 घण्टे के भीतर ही मौत हो गयी।

जीवन की स्वतंत्रता ऐसा मूलभूत अधिकार है जिससे किसी को भी वंचित नहीं किया जा सकता। संविधान के अनुसार भी कोई नागरिक जीवन जीने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। लेकिन दुनिया के सबसे बड़े कहे जाने वाले लोकतंत्र में आये दिन पुलिस ख़ुद ही लोगों के इस अधिकार का उल्लंघन करती है। ख़ासकर ग़रीबों, मज़दूरों, अल्पसंख्यकों और दलितों के प्रति तो पुलिस का बर्ताव निहायत ही अमानवीय होता है। चूँकि पूँजीवादी समाज में पुलिस का मुख्य काम पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को क़ायम रखना है, इसलिए पुलिस के इस अमानवीय बर्ताव को समझा जा सकता है। दरअसल पुलिस पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की रक्षक है और उसके लिए हर वह व्यक्ति सम्भावित अपराधी है जो इन उत्पादन सम्बन्धों की वजह से पिस रहा है और उसके ख़िलाफ़ विद्रोह कर सकता है।

# फ़ैक्टरी-मज़दूरों की एकता, वर्ग-चेतना और संघर्ष का विकास*

## (रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी के मसौदा कार्यक्रम की व्याख्या का एक अंश)

### – व्ला.इ. लेनिन

**(लेनिन ने 1895 में सेण्ट पीटर्सबर्ग के सभी मार्क्सवादी मज़दूर मण्डलों को मिलाकर 'मज़दूर मुक्ति संघर्ष लीग' की स्थापना की थी जिसने मज़दूरों के बीच मार्क्सवाद के प्रचार-प्रसार के साथ ही हड़तालों और आन्दोलनों में भी गुप्त रूप से अग्रणी भूमिका निभायी। उस समय तक रूस के कई शहरों में मार्क्सवादी ग्रुप गठित हो चुके थे जिन्हें एकजुट करके लेनिन सर्वहारा वर्ग की एक अखिल रूसी पार्टी बनाना चाहते थे। इसी बीच, दिसम्बर 1895 में ज़ारशाही ने लेनिन को गिरफ़्तार कर लिया। चौदह महीने तक विचाराधीन क़ैदी के रूप में जेल में रखने के बाद उन्हें तीन वर्ष के लिए साइबेरिया निर्वासन का दण्ड सुनाया गया।**

**जेल और निर्वासन के दौरान लेनिन लगातार सैद्धान्तिक और प्रचारात्मक-आन्दोलनात्मक लेखन करते रहे। जेल में रहते हुए दिसम्बर 1895 से जुलाई 1896 के बीच उन्होंने रूस की सामाजिक-जनवादी पार्टी के कार्यक्रम का एक मसौदा तैयार किया और आम कार्यकर्ताओं तथा मज़दूरों को समझाने के लिए उसकी एक लम्बी व्याख्या भी लिखी। यह सबकुछ उन्होंने दवाइयों की किताब की पंक्तियों के बीच अदृश्य स्याही के रूप में दूध का इस्तेमाल करते हुए लिखा। यह लेनिन का महत्वपूर्ण प्रारम्भिक लेखन है। पार्टी कार्यक्रम के इस प्रस्तावित मसौदे और उसकी व्याख्या का पहले-पहल प्रकाशन 1924 में हो पाया।**

**यह दस्तावेज़ मज़दूरों और कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के अध्ययन के लिए आज भी बेहद प्रासंगिक है। हम यहाँ 'मज़दूर बिगुल' के पाठकों के लिए उक्त मसौदा पार्टी कार्यक्रम की व्याख्या का एक हिस्सा प्रकाशित कर रहे हैं जिसमें इस प्रक्रिया का सिलसिलेवार ब्योरा दिया गया है कि किस प्रकार कारख़ानों में बड़ी पूँजी का सामना करने के लिए एकता मज़दूर वर्ग की ज़रूरत बन जाती है, और किस प्रकार उनकी वर्ग-चेतना विकसित होती है तथा उसके संघर्ष व्यापक होते जाते हैं। लेनिन ने इस बात पर बल दिया है कि पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ मज़दूरों का संघर्ष जब राजनीतिक संघर्ष (राज्यसत्ता के विरुद्ध संघर्ष) बन जाता है, तभी वे अपनी और शेष जनता की मुक्ति की दिशा में आगे डग भर पाते हैं। लेनिन के अनुसार, अपनी राजनीतिक पार्टी के नेतृत्व में एकजुट होकर ही मज़दूर वर्ग अपना यह लक्ष्य हासिल कर सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त की रूसी फ़ैक्टरियों से आज की फ़ैक्टरियों के तौर-तरीक़े कई मायनों में बदल गये हैं, लेकिन पूँजीवादी शोषण और उसके विरुद्ध मज़दूरों की एकजुटता एवं लामबन्दी का जो चित्र लेनिन ने उपस्थित किया है, उसकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। मज़दूरों और मज़दूर कार्यकर्ताओं के लिए इस ऐतिहासिक दस्तावेज़ का गम्भीर अध्ययन बेहद ज़रूरी है।**

**(*इस अंश का यह शीर्षक हमारा दिया हुआ है**
**— सम्पादक)**

…मज़दूर पूँजीपति के, जो मशीनें चलवाता है, सामने असहाय तथा अरक्षित है। मज़दूर को किसी भी क़ीमत पर पूँजीपति का विरोध करने के साधनों की तलाश करनी होती है, ताकि वह अपना बचाव कर सके। और उसे ऐसा साधन एकता में मिल जाता है। अकेले वह असहाय होता है, परन्तु अपने साथियों के साथ ऐक्यबद्ध होने पर वह एक शक्ति बन जाता है तथा पूँजीपति से संघर्ष करने और उसके प्रहार का मुक़ाबला करने में सक्षम हो जाता है।

एकता मज़दूर के लिए, जिसका सामना अब बड़ी पूँजी से होता है, आवश्यकता बन जाती है। परन्तु क्या लोगों के, जो एक-दूसरे के लिए अजनबी होते हैं, भले ही वे एक फ़ैक्टरी में काम करते हैं, इस पंचमेली समूह को ऐक्यबद्ध करना सम्भव है? कार्यक्रम में वे परिस्थितियाँ इंगित की गयी हैं जो मज़दूरों को एकता के लिए तैयार करती हैं तथा उनमें ऐक्यबद्ध होने की क्षमता तथा योग्यता का विकास करती हैं।

ये परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं : 1) बड़ी फ़ैक्टरी, जिसमें पूरे साल नियमित काम का तक़ाज़ा करने वाला मशीनी उत्पादन होता है, मज़दूर और उसकी ज़मीन तथा उसके अपने फ़ार्म के बीच सम्बन्ध को पूरी तरह भंग कर देती है और उसे पूर्ण सर्वहारा बना देती है। यह तथ्य कि प्रत्येक मज़दूर अपने खेत के टुकड़े पर अपने लिए काम करता था, मज़दूरों को एक-दूसरे से अलग करता था तथा उनमें से प्रत्येक को विशिष्ट हित प्रदान करता था, इस प्रकार वह एकता की राह में बाधक था। ज़मीन के साथ मज़दूर का सम्बन्ध-विच्छेद इन बाधाओं को नष्ट कर देता है। 2) इसके अलावा सैकड़ों और हज़ारों मज़दूरों का संयुक्त कार्य स्वयं मज़दूरों को संयुक्त रूप से अपनी आवश्यकताओं पर विचार करने, संयुक्त कार्रवाई करने का आदी बना देता है और उन्हें स्पष्ट रूप से बताता है कि मज़दूरों के पूरे समूह की स्थिति तथा हित एक जैसे हैं। 3) अन्तिम बात, एक फ़ैक्टरी से दूसरी फ़ैक्टरी में मज़दूरों का लगातार स्थानान्तरण उन्हें भिन्न-भिन्न फ़ैक्टरियों में हालात और अमल की तुलना करने, तमाम फ़ैक्टरियों में शोषण के एक जैसे स्वरूप के बारे में आश्वस्त होने, पूँजीपति के विरुद्ध संघर्षों के अन्य मज़दूरों के अनुभव को ग्रहण करने और इस प्रकार मज़दूरों की ऐक्यबद्धता तथा एकजुटता बढ़ाने का आदी बना देता है।

समग्र रूप में इन परिस्थितियों के कारण बड़ी फ़ैक्टरियों में मज़दूरों की एकता का जन्म हुआ है। रूसी मज़दूरों के बीच एकता मुख्यतया तथा बहुधा हड़तालों के रूप में प्रकट होती है (इस कारण पर हम और विचार करेंगे कि यूनियनों या पारस्परिक सहायता कोषों के रूप में संगठन क्यों हमारे मज़दूरों के वश के बाहर की चीज़ है)। बड़ी फ़ैक्टरियों का विकास जितना अधिक होता है मज़दूरों की हड़तालें उतनी ही बारम्बारता के साथ, उतनी ही सशक्त तथा उतनी ही अनमनीय होती हैं; पूँजीवाद द्वारा उत्पीड़न जितना ज़्यादा होता है, मज़दूरों के संयुक्त प्रतिरोध की आवश्यकता उतनी ही बढ़ जाती है। जैसाकि कार्यक्रम में बताया गया है, मज़दूरों की हड़तालों तथा छुटपुट विद्रोहों ने अब रूसी फ़ैक्टरियों में सबसे अधिक व्यापक परिघटना का रूप ग्रहण कर लिया है। परन्तु वे पूँजीवाद की और संवृद्धि होने के कारण तथा हड़तालों की बढ़ती बारम्बारता बढ़ने के कारण अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। मालिक उनके ख़िलाफ़ संयुक्त कार्रवाई करते हैं : वे अपने बीच समझौते करते हैं, दूसरे इलाक़ों से मज़दूर लाते हैं तथा मदद के लिए राजकीय यंत्र का संचालन करने वालों की ओर मुड़ते हैं, जो उन्हें मज़दूरों के प्रतिरोध को चकनाचूर करने में मदद देते हैं।

अलग-अलग फ़ैक्टरी में अलग-अलग मालिक का सामना करने के बजाय मज़दूरों को अब पूरे पूँजीपति वर्ग और उसकी सहायता करने वाली सरकार का सामना करना पड़ता है। पूरा पूँजीपति वर्ग पूरे मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ संघर्ष के लिए मैदान में उतरता है। वह हड़तालों के विरुद्ध संयुक्त कार्रवाइयों का आयोजन करता है, सरकार पर मज़दूर वर्ग-विरोधी क़ानून पास करने के लिए दबाव डालता है, फ़ैक्टरियों को दूर-दराज़ बस्तियों में स्थानान्तरित करता है, घर पर काम करने वाले लोगों के बीच काम बाँटता है, मज़दूरों के ख़िलाफ़ सैकड़ों दूसरी चालों और युक्तियों का सहारा लेता है। पृथक फ़ैक्टरी, यही नहीं, पृथक उद्योग के मज़दूरों की एकता पूरे पूँजीपति वर्ग का प्रतिरोध करने के लिए अपर्याप्त सिद्ध होती है तथा पूरे मज़दूर वर्ग की संयुक्त कार्रवाई नितान्त आवश्यक हो जाती है। इस तरह अलग-अलग हड़तालों से पूरे मज़दूर वर्ग के संघर्ष का जन्म होता है। मालिकों के ख़िलाफ़ मज़दूरों का संघर्ष वर्ग-संघर्ष में परिणत हो जाता है। सारे मालिक मज़दूरों को अपनी मातहती की स्थिति में रखने और यथासम्भव न्यूनतम मज़दूरी देने के हित से ऐक्यबद्ध होते हैं।

मालिक देखते हैं कि उनके हितों की रक्षा का एकमात्र तरीक़ा यह है कि पूरा मालिक वर्ग संयुक्त कार्रवाई करे, राजकीय यंत्र पर अपना प्रभाव स्थापित करे, इसी तरह मज़दूर भी एक जैसे हित से परस्पर ऐक्यबद्ध होते हैं, यह हित है – अपने को पूँजी द्वारा रौंदे जाने से बचाना, ज़िन्दा रहने के, मानव-अस्तित्व के अपने अधिकार की रक्षा करना। मज़दूरों को भी इसी तरह पक्का यक़ीन हो जाता है कि उन्हें भी एकता, पूरे वर्ग, मज़दूर वर्ग की संयुक्त कार्रवाई की आवश्यकता है और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्हें राजकीय यंत्र पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहिए।

(क) 4. हम बता चुके हैं कि फ़ैक्टरी मज़दूरों तथा मालिकों के बीच संघर्ष कैसे और क्यों वर्ग-संघर्ष, मज़दूर वर्ग — सर्वहाराओं — का पूँजीपति वर्ग — बुर्जुआ — के विरुद्ध वर्ग-संघर्ष बनता है। सवाल उठता है — इस संघर्ष का पूरी जनता, पूरी मेहनतकश जनता के लिए क्या महत्व है? समकालीन अवस्थाओं में जिनकी हम मुद्दा 1 की व्याख्या में पहले ही चर्चा कर चुके हैं, उजरती मज़दूरों द्वारा किया जाने वाला उत्पादन लघु अर्थव्यवस्था को बाहर धकेल देता है। उजरती श्रम के सहारे जीवन-यापन करने वाले लोगों की संख्या बहुत तेज़ी से बढ़ती है, नियमित फ़ैक्टरी मज़दूरों की संख्या ही नहीं बढ़ती, अपितु उन किसानों की संख्या में और ज़्यादा वृद्धि होती है, जिन्हें जीवन-यापन कर सकने की ख़ातिर उजरती मज़दूरों के रूप में काम की तलाश भी करनी पड़ती है।

इस समय भाड़े पर काम, पूँजीपति के लिए काम श्रम का सबसे व्यापक रूप बन गया है। श्रम पर पूँजी का प्रभुत्व उद्योग को ही नहीं वरन कृषि क्षेत्र की आबादी के अधिकांश को भी अपनी परिधि में ले आया है। तो समकालीन समाज में अन्तर्निहित उजरती श्रम का यही शोषण है, जिसका बड़ी फ़ैक्टरियाँ अधिकतम विकास करती हैं। शोषण की तमाम विधियाँ, जिनको सारे उद्योगों में सारे पूँजीपति अमल में लाते हैं तथा जिनसे सारी रूसी मेहनतकश आबादी पीड़ित है, ठीक फ़ैक्टरी में संकेन्द्रित हैं, गहन की जाती हैं, उन्हें बाक़ायदा नियम बनाया जाता है और वे मज़दूर के श्रम तथा जीवन के तमाम पहलुओं तक प्रसारित होती हैं, वे एक पूरा नित्यक्रम, एक पूरी पद्धति तैयार करती हैं, जिनके ज़रिये पूँजीपति मज़दूर का ख़ून चूसता है।

एक उदाहरण देकर इस पर प्रकाश डालें — सदैव तथा सर्वत्र जो कोई भाड़े पर काम करता है, वो किसी उत्सव के मनाये जाने पर आराम करता है, अपना काम छोड़ देता है। परन्तु फ़ैक्टरी में दूसरी बात होती है, फ़ैक्टरी के प्रबन्धक एक बार किसी मज़दूर को काम पर रख लेने के बाद उसकी सेवाओं का मनचाहे ढंग से उपयोग करते हैं, मज़दूर की आदतों, उसके जीवन-यापन के प्रथागत तरीक़ों, उसकी पारिवारिक स्थिति, उसकी बौद्धिक आवश्यकताओं की ओर कोई ध्यान नहीं देते। फ़ैक्टरी को अपने कर्मचारी के श्रम की जब ज़रूरत होती है तब वह उसे काम की ओर धकेलती है, उसे मजबूर करती है कि वह अपना पूरा जीवन उसकी आवश्यकताओं के साँचे में बिठाये, उसके आराम के घण्टों को टुकड़ों में बाँट देती है और अगर वह पाली में काम करता है तो उसे रात को और त्यौहारों के दिन काम करने के लिए मजबूर करती है। कार्य-समय के जितने भी दुरुपयोगों की कल्पना की जा सकती है, फ़ैक्टरी उन सबका आश्रय लेती है, साथ ही वह अपने "नियम", अपने "अमल" को लागू करती है, जो प्रत्येक मज़दूर के लिए अनिवार्य होते हैं। फ़ैक्टरी में कार्य-व्यवस्था जान-बूझकर इस तरह ढाली जाती है कि भाड़े पर काम करने वाले मज़दूर से उसकी क्षमता के अनुरूप सारा श्रम निचोड़ लिया जाये, द्रुततम गति से निचोड़ लिया जाये और फिर उसे धक्का देकर बाहर निकाल दिया जाये!

यह रहा एक और उदाहरण। जो कोई व्यक्ति काम पर लगता है, वह निस्सन्देह मालिक को वचन देता है कि उसे जो कुछ करने का आदेश दिया जायेगा, वह उसे करेगा। परन्तु जो कोई स्थाई काम के लिए अपना श्रम भाड़े पर देता है, वह अपनी इच्छा कदापि समर्पित नहीं करता; यदि वह मालिक की माँगों को ग़लत और ज़्यादतीभरा समझता है, तो वह उसे छोड़ देता है। फिर भी फ़ैक्टरी यह माँग करती है कि मज़दूर अपनी इच्छा पूरी तरह समर्पित करे। वह अपनी चारदीवारियों के अन्दर अनुशासन लागू करती है, मज़दूर को घण्टी बजने या बन्द होने पर काम शुरू करने या रोकने के लिए विवश करती है, मज़दूर को सज़ा देने का अधिकार ग्रहण करती है, उस पर उन नियमों के, जो उसने स्वयं बनाये हैं किसी भी उल्लंघन के लिए ज़ुर्माना करती है या मज़दूरी में कटौती करती है। मज़दूर मशीन के विशाल समुच्चय का अंग बन जाता है : उसे स्वयं मशीन की तरह आज्ञाकारी, ग़ुलाम होना चाहिए। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होनी चाहिए।

एक तीसरा उदाहरण ले लें। जो कोई काम पर लगता है, वह अपने मालिक से अक्सर असन्तुष्ट होता है, उसकी शिकायत अदालत में या सरकारी अधिकारी के पास करता है। अधिकारी तथा अदालत दोनों विवाद आमतौर पर मालिक के पक्ष में निपटाते हैं उसका समर्थन करते हैं। परन्तु मालिक का यह हित साधन किसी आम विनियम

**(पेज 14 पर जारी)**

# राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2019 : शिक्षा के नग्न बाज़ारीकरण का घोषणापत्र

**अविनाश**

आख़िरकार लम्बे समय से जारी लुकाछिपी का खेल 1 जून 2019 को ख़त्म हो गया। राष्ट्रीय शिक्षा नीति के चार ड्राफ़्ट और हज़ारों जन सुझावों को हज़मकर चुप्पी मारकर बैठ जाने वाली मोदी सरकार ने लोक सभा चुनाव के नतीजे आने के बाद अचानक कस्तूरीरंगन कमेटी द्वारा तैयार नयी शिक्षा नीति की रिपोर्ट सार्वजानिक कर दी। समानता, रचनात्मकता, सृजनात्मकता, स्वायतता, जनवाद, जैसे ढेरों शब्दों की भरमार वाला यह ड्राफ़्ट देखने में बहुत 'क्रान्तिकारी' लगता है लेकिन असल में इन शब्दों की चाशनी में लपेटा गया यह ड्राफ़्ट शिक्षा में फ़ासीवादी एजेण्डे को अमली जामा पहनाने का दस्तावेज़ है।

नयी शिक्षा नीति के ड्राफ़्ट में चालाकी दिखाते हुए शिक्षा के ख़र्च के आधार को 'जीडीपी' से बदल कर 'सरकारी ख़र्च (बजट)' करने की सिफ़ारिश की गयी है। जिसे आज वर्तमान सरकारी ख़र्च के दस प्रतिशत और आने वाले सालों में बढ़ाकर बीस प्रतिशत करने की बात की जा रही है, लेकिन आधार बदलने से यह ख़र्च पहले से भी कम हो जायेगा।

नयी शिक्षा नीति का यह ड्राफ़्ट बात तो बड़ी-बड़ी कर रहा है किन्तु इसकी बातों और इसमें सुझाये गये प्रावधानों में विरोधाभास है। यह ड्राफ़्ट शिक्षा में ग़ैर-बराबरी के आंकड़े पेश करता है कि पहली कक्षा से 12वीं में आते-आते दलितों का प्रतिनिधित्व 17% से घटकर 10% और मुस्लिमों का प्रतिनिधित्व 15% से घटकर 7% रह जाता है, लेकिन जिन नीतियों से यह ग़ैर-बराबरी पैदा हुई है उसको और मज़बूत करने की कोशिश करता है। एक तरफ़ यह ड्राफ़्ट बदहाल सरकारी शिक्षा का रोना रोता है लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में प्राइवेट स्कूलों द्वारा चल रही भयानक लूट को ख़त्म कर सबके लिए एक सामान व निःशुल्क सरकारी शिक्षा व्यवस्था लागू करने की जगह यह प्रस्ताव देता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में कंप्यूटर, प्रयोगशाला, पुस्तकालय आदि सुविधाओं से लैस 12वीं तक का एक बड़ा हायर सेकेण्डरी स्कूल काम्प्लेक्स ब्लाक, तहसील या ज़िला मुख्यालयों पर खोला जाये। आस-पास के अन्य स्कूलों को आपस में प्रशासनिक तंत्र के ज़रिये इस कॉम्प्लेक्स से जोड़ा जायेगा। लेकिन यह ड्राफ़्ट यह नहीं बताता कि उन कॉम्प्लेक्सों तक दूर दराज़ के छात्र पहुँचेंगे कैसे? इससे निजी स्कूलों में जो बच्चे पढ़ रहे हैं वो वापस कैसे आयेंगे? ड्राफ़्ट 50 से कम छात्रों वाले सरकारी स्कूलों का विलय करने या बन्द करने की भी सिफ़ारिश करता है। इस सिफ़ारिश को मोदी सरकार के पहले कार्यकाल में मोदी की अध्यक्षता में नीति आयोग द्वारा 80% सरकारी स्कूल बन्द करने के फ़ैसले से जोड़कर देखना चाहिए। नयोदय विद्यालय, केन्द्रीय विद्यालय समेत राज्य और केन्द्र सरकार के और हर प्रकार के निजी स्कूल यथावत् चलते रहेंगे, लोग अपनी हैसियत के स्कूलों में अपने बच्चों को भेजते रहेंगे।

कस्तूरीरंगन के ड्राफ़्ट के मुताबिक़ स्कूलों में बच्चे सीख नहीं रहे हैं इसलिए बच्चे बीच में पढ़ाई छोड़ दे रहे हैं (इसकी और भी बहुत सी वजहें हैं, जिनका स्थानाभाव के कारण ज़िक्र सम्भव नहीं है)। इनको वापस शिक्षा में लेने के लिए जो एजेण्डा यह नीति प्रस्तावित कर रही है वो पूरी तरीक़े से फ़ासीवादी एजेण्डा है जिसके तहत बड़ी संख्या में स्वयंसेवकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और एनजीओ की मदद ली जायेगी। ज़ाहिर है कि इतनी बड़ी संख्या में लोग अभी सिर्फ़ आरएसएस के पास हैं। इसीलिए यह मसौदा 3 से 6 वर्ष के बच्चों की पूर्व प्राथमिक शिक्षा पर इतना ज़ोर दे रहा है।

आरटीई एक्ट को धता बताते हुए ड्राफ़्ट सिफ़ारिश करता है कि कक्षा 8वीं से नीचे के बच्चों को भी फ़ेल किया जायेगा और फ़ेल होने वाले बच्चों को वोकेशनल स्ट्रीम में डाला जाये जिसमें बच्चों को छोटे-मोटे काम-धन्धे भी सिखाये जायेंगे जिससे पूँजीपतियों को सस्ते मज़दूर मिल सकें और शिक्षा पर ख़र्च भी कम करना पड़ेगा।

उच्च शिक्षा की बात करें तो लोकतंत्र और जनवाद का ढिंढोरा पीटने वाले इस ड्राफ़्ट में इस बात का कहीं ज़िक्र तक नहीं है कि विश्वविद्यालयों में छात्रों का प्रतिनिधित्व करने वाला छात्रसंघ होगा या नहीं। छात्रों का प्रशासन और अध्यापकों के साथ सम्बन्ध कैसा होगा इसकी कोई चर्चा नहीं की गयी है। बल्कि बोर्ड ऑफ़ गवर्नर्स का एक नया तंत्र सुझाया गया है जो विश्वविद्यालय समुदाय के प्रति किसी भी रूप में जवाबदेह नहीं होगा। ज़रूरी नहीं है कि बोर्ड के ये 'मानिन्द' लोग शिक्षा से जुड़े लोग ही हों। इस तरह यह दस्तावेज़ कैम्पसों के बचे-खुचे जनवादी स्पेस का भी गला घोंट देता है।

यह मसौदा शिक्षा संस्थानों को शैक्षिक-प्रशासनिक और वित्तीय स्वायत्तता देने की बात करता है। लेकिन दूसरी तरफ़ ड्राफ़्ट प्रशासनिक केन्द्रीकरण का पुरज़ोर समर्थन भी करता है। कस्तूरीरंगन के मसौदे के अनुसार विश्वविद्यालयों में राष्ट्रीय शिक्षा आयोग गठित किया जायेगा, जिसकी अध्यक्षता प्रधानमंत्री (आख़िरी ड्राफ़्ट में शिक्षा मंत्री) करेंगे, और राज्य सरकारों के संस्थानों पर भी केन्द्र का नियंत्रण होगा। आयोग के सदस्यों का चयन भी प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाली एक कमेटी करेगी। यानी पूरे देश में केजी से लेकर पीजी तक – पूरी शिक्षा व्यवस्था पर अकेले प्रधानमंत्री का हुक्म चलेगा। रही बात वित्तीय स्वायत्तता की तो उसके लिए सरकार ने विश्वविद्यालय को पूरी छूट दे रखी है कि पूँजीपतियों, बैंकों, देशी-विदेशी कॉर्पोरेट घरानों आदि से पैसा माँग लें जिसका मूलधन विश्वविद्यालय को इकट्ठा करना होगा और ब्याज़ सरकार भर देगी। ज़ाहिर है कि जो पैसा देगा वह हमारे संस्थानों पर अपनी शर्तें भी थोपेगा। इस संस्थानों में कोर्स, किताबों व शिक्षकों की क़ाबिलियत और शिक्षकों के मापदण्ड के फ़ैसले भी यही पैसा देनेवाले करेंगे, चाहे वे विद्यार्थियों, समाज व देश के हित में हो या न हो। ड्राफ़्ट में यह प्रस्ताव भी है कि सभी संस्थानों को (सरकारी और निजी संस्थान को) बराबरी का दर्जा देने वाले नियम-क़ानून बनाये जायेंगे। मतलब सरकारी संस्थान को जो सुविधाएँ मिलती हैं, वही प्राइवेट संस्थानों को भी मिलनी चाहिए। सरकार इलाहाबाद विश्वविद्यालय को 1000 करोड़ का अनुदान देती है तो ड्राफ़्ट के लागू होने के बाद से एमिटी विश्वविद्यालय को भी यह रक़म देगी। चूँकि देना किसी को नहीं है इसलिए सरकार सरकारी संस्थाओं को भी आने वाले दिनों में अनुदान देना बन्द कर देगी।

आज मज़दूर वर्ग को शिक्षा से बेदख़ल करके फ़ासीवादी एजेण्डा थोपने वाले इस दस्तावेज़ का विरोध करते हुए समान और निःशुल्क शिक्षा का नारा बुलन्द करना होगा।

# फ़ैक्टरी-मज़दूरों की एकता, वर्ग-चेतना और संघर्ष का विकास

(पेज 13 से आगे)

या किसी क़ानून पर नहीं, वरन पृथक-पृथक अधिकारियों की ताबेदारी पर आधारित होता है, जो भिन्न-भिन्न अवसरों पर कम या अधिक मात्रा में उसकी रक्षा करते हैं और जो मामले को अनुचित रूप से, मालिक के पक्ष में इसलिए तय करते हैं कि वे या तो मालिक के परिचित होते हैं, या फिर इसलिए कि वे कामकाज के हालात के बारे में अपरिचित होते हैं तथा मज़दूर को समझने में असमर्थ होते हैं। ऐसे अन्याय का प्रत्येक पृथक मामला मज़दूर तथा मालिक के बीच प्रत्येक पृथक टक्कर पर, प्रत्येक पृथक अधिकारी पर निर्भर करता है। लेकिन फ़ैक्टरी मज़दूरों का इतना बड़ा समूह जमा कर लेती है, उत्पीड़न को ऐसी सीमा पर पहुँचा देती है कि प्रत्येक पृथक मामले की जाँच करना असम्भव हो जाता है। आम विनियम तैयार किये जाते हैं, मज़दूरों तथा मालिकों के बीच सम्बन्धों के बारे में एक क़ानून बनाया जाता है, ऐसा क़ानून, जो सबके लिए अनिवार्य होता है। इस क़ानून में मालिकों के लिए हित साधन को राज्य की सत्ता का सहारा दिया जाता है। पृथक अधिकारी द्वारा अन्याय का स्थान क़ानून द्वारा अन्याय ले लेता है। उदाहरण के लिए, इस प्रकार के विनियम सामने आते हैं — यदि मज़दूर काम से ग़ैर-हाज़िर है, तो वह मज़दूरी से ही हाथ नहीं धोता, वरन उसे ज़ुर्माना भी देना पड़ता है, जबकि मालिक यदि काम के न होने पर मज़दूरों को घर वापस भेज देता है, तो उसे कुछ नहीं देना पड़ता; मालिक मज़दूर को कठोर भाषा का उपयोग करने पर बरख़ास्त कर सकता है, जबकि मालिक का इस प्रकार का बर्ताव होने पर मज़दूर काम नहीं छोड़ सकता; मालिक को अपनी ही सत्ता के आधार पर ज़ुर्माना करने, मज़दूरी में कटौतियाँ करने, उससे ओवरटाइम काम करने की माँग करने का अधिकार होता है, आदि।

ये सब उदाहरण हमें बताते हैं कि फ़ैक्टरी कैसे मज़दूरों का शोषण गहन बनाती है और इस शोषण को सार्वत्रिक बनाती है, उसे एक पूरी "प्रणाली" बना देती है। मज़दूर का अब चाहे-अनचाहे एक अलग मालिक, उसकी इच्छा तथा उसके द्वारा उत्पीड़न से नहीं, वरन एक पूरे मालिक वर्ग के मनमाने बर्ताव तथा उत्पीड़न से साबिक़ा पड़ता है। मज़दूर देखता है कि कोई एक पूँजीपति नहीं, वरन पूरा पूँजीपति वर्ग उसका उत्पीड़क है, क्योंकि शोषण की प्रणाली सारे प्रतिष्ठानों में एक जैसी है। अकेला पूँजीपति इस प्रणाली से अलग होकर नहीं चल सकता : उदाहरण के लिए, उसके दिमाग़ में यदि कार्य-घण्टे घटाने की बात आ जाये, तो उसके माल पर आने वाली लागत उसके पड़ोसी, एक अन्य फ़ैक्टरी मालिक द्वारा, जो अपने मज़दूरों से उतनी ही मज़दूरी पर ज़्यादा घण्टे काम करवाता है, उत्पादित माल की लागत से ज़्यादा होगी। अपनी हालत में सुधार हासिल करने के लिए मज़दूर का उस पूरी सामाजिक प्रणाली से साबिक़ा पड़ता है, जिसका लक्ष्य श्रम का पूँजी द्वारा शोषण है।

मज़दूर को अब एक अलग अधिकारी के अलग अन्याय का नहीं, वरन स्वयं राजकीय सत्ता के अन्याय का सामना करना पड़ता है, जो पूरे पूँजीपति वर्ग को अपना संरक्षण प्रदान करती है, सबके लिए अनिवार्य ऐसे क़ानून जारी करती है, जो उस वर्ग का हित साधन करते हैं। इस तरह मालिकों के विरुद्ध फ़ैक्टरी मज़दूरों का संघर्ष अनिवार्यतः पूरे पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध पूँजी द्वारा श्रम के शोषण पर आधारित पूरी सामाजिक प्रणाली के विरुद्ध संघर्ष में परिणत हो जाता है। यही कारण है कि मज़दूरों का संघर्ष सामाजिक महत्व ग्रहण कर लेता है, पूरी मेहनतकश जनता की ओर से उन तमाम वर्गों के विरुद्ध संघर्ष बन जाता है, जो दूसरों के श्रम के सहारे ज़िन्दा रहते हैं। यही कारण है कि मज़दूरों का संघर्ष रूसी इतिहास में एक नये युग के द्वार खोलता है, वह मज़दूरों की मुक्ति की प्रभात वेला है।

तो फिर पूरे मेहनतकश जनसाधरण पर पूँजीपति वर्ग का प्रभुत्व किसपर आधारित है? वह इस तथ्य पर आधारित है कि सारी फ़ैक्टरियाँ, मिलें, खानें, मशीनें तथा श्रम के औज़ार पूँजीपतियों के हाथों में हैं तथा उनकी सम्पत्ति हैं; इस तथ्य पर आधारित है कि उनके पास भूमि विशाल परिमाण में है (यूरोपीय रूस में पूरी भूमि का एक-तिहाई से अधिक भाग भूस्वामियों के पास है, जिनकी तादाद पाँच लाख से ज़्यादा नहीं है)। मज़दूरों के पास श्रम के कोई औज़ार या सामग्री नहीं होती, इसलिए वे अपनी श्रम-शक्ति पूँजीपतियों के हाथों में बेचने के लिए मजबूर होते हैं, जो उन्हें केवल इतना देते हैं कि वे बस अपना गुज़ारा कर सकें, और जो श्रम का सारा अतिरिक्त उत्पाद अपनी जेबों में ठूँस लेते हैं; इस तरह वे उन्हें इस्तेमाल किये गये कार्य-समय के केवल एक भाग की अदायगी करते हैं शेष वे हस्तगत कर लेते हैं। मज़दूर जनसमुदायों के संयुक्त श्रम के अथवा उत्पादन में सुधारों के परिणामस्वरूप सम्पदा में होने वाली सारी वृद्धि पूँजीपति वर्ग के पास चली जाती है, जबकि पीढ़ी-दर-पीढ़ी कठोर परिश्रम करने वाले मज़दूर सम्पत्तिहीन सर्वहारा बने रहते हैं।

इसीलिए श्रम के पूँजी द्वारा शोषण का अन्त करने का केवल एक ही रास्ता है, और वह है श्रम के औज़ारों के निजी स्वामित्व का उन्मूलन, सारी फ़ैक्टरियाँ, मिलें, खानें, साथ ही बड़ी जागीरें, आदि पूरे समाज के हवाले करना, स्वयं मज़दूरों के निर्देशन में समाजवादी उत्पादन करना। श्रम द्वारा मिलकर उत्पादित वस्तुएँ तब स्वयं मेहनतकश जनता को लाभान्वित करेंगी, जबकि उनके अपने गुज़ारे से अधिक अतिरिक्त उत्पाद से स्वयं मज़दूरों की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, उनकी सारी क्षमताओं का विकास होगा तथा उन्हें विज्ञान और संस्कृति की समस्त उपलब्धियों का उपभोग करने का समान अधिकार प्राप्त होगा। इसी कारण कार्यक्रम में कहा गया है कि मज़दूर वर्ग तथा पूँजीपतियों के बीच संघर्ष का केवल इसी तरह का अन्त हो सकता है। लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक सत्ता, अर्थात राज्य पर शासन करने की सत्ता ऐसी सरकार के, जो पूँजीपतियों तथा भूस्वामियों के प्रभाव में है, हाथों से, अथवा सीधे पूँजीपतियों के निर्वाचित प्रतिनिधियों को लेकर बनी सरकार के हाथों से मज़दूर वर्ग के हाथों में पहुँचे।

ऐसा है मज़दूर वर्ग के संघर्ष का अन्तिम लक्ष्य, ऐसी है उसकी पूर्ण-मुक्ति की शर्त। यह है वह अन्तिम लक्ष्य, जिसकी सिद्धि के लिए सचेत, संगठित मज़दूरों को प्रयास करना चाहिए। परन्तु यहाँ रूस में उन्हें ज़बर्दस्त बाधाओं का सामना करना पड़ता है, जो मुक्ति के उनके संघर्ष का रास्ता रोकती हैं।

**(अगले अंक में जारी)**

दिसम्बर, 1895 – जुलाई 1896 के दौरान लिखित।
पहले पहल 1924 में प्रकाशित।
अंग्रेज़ी से अनूदित

कविता

# मैं दण्ड की माँग करता हूँ

– पाब्लो नेरूदा

अपने उन शहीदों के नाम पर
उन लोगों के लिए
मैं दण्ड की माँग करता हूँ
जिन्होंने हमारी पितृभूमि को
रक्तप्लावित कर दिया है
उन लोगों के लिए
मैं दण्ड की माँग करता हूँ
जिनके निर्देश पर
यह अन्याय, यह ख़ून हुआ
उसके लिए मैं दण्ड की माँग करता हूँ
विश्वासघाती
जो इन शवों पर खड़े होने की हिम्मत रखता है
उसके लिए मेरी माँग है
उसे दण्ड दो, उसे दण्ड दो
जिन लोगों ने हत्यारों को माफ़ कर दिया है
उनके लिए मैं दण्ड की माँग करता हूँ

मैं चारों ओर हाथ मलते
घूमता नहीं रह सकता
मैं उन्हें भूल नहीं सकता
मैं उनके ख़ून से सने हाथों को
छू नहीं सकता
मैं उनके लिए दण्ड चाहता हूँ
मैं नहीं चाहता कि उन्हें यहाँ-वहाँ
राजदूत बनाकर भेज दिया जाये
मैं यह भी नहीं चाहता
कि वे लोग यहीं छुपे रहें
मैं चाहता हूँ
उन पर मुक़दमा चले
यहीं, इस खुले आसमान के नीचे
ठीक यहीं
मैं उन्हें दण्डित होते देखना चाहता हूँ

●

मैं उन शहीदों से बात करना चाहता हूँ
लगता है वे लोग यहीं हैं
मेरे भाइयो! संघर्ष जारी रहेगा
अपनी लड़ाई हम जारी रखेंगे
कल-कारख़ानों में, खेत-खलिहानों में
गली-गली में यह लड़ाई जारी रहेगी
नमक/शोरा की खदानों में
यह लड़ाई जारी रहेगी
यह लड़ाई जारी रहेगी
वृक्षहीन समतल भूमि पर
ताँबे की भट्ठियों में धधक उठेगी
लाल-हरी लपटें
सुबह-सुबह कोयले का काला धुआँ
भरता जा रहा है जिन कोठरियों में
वहीं खींची जायेगी
युद्ध की रेखा
और हमारे हृदयों में
ये झण्डे जो तुम्हारे ख़ून के गवाह हैं
जब तक इनकी संख्या
कई गुना बढ़ नहीं जाती
सिर्फ़ लहराते ही नहीं रहें
और तेज़ी से फड़फड़ाने लगें
अक्षय वसन्त के इन्तज़ार में
लाखों-हज़ार पत्तों की तरह

●

हज़ारों साल तक
इस सड़क पर बिछे पत्थरों से
तुम्हारे कदमों की आवाज़
और आहटें आती रहेंगी
पत्थरों पर पड़े तुम्हारे ख़ून के दाग़
अब किसी तरह मिटाये नहीं जा सकेंगे
हज़ारों कण्ठों की अजस्र ध्वनि
इस सहमे हुए मौन को तोड़ देगी
तुम्हारी मौत को भूला नहीं जा सकेगा कभी भी
घण्टे की गूँजती हुई आवाज़
उसकी याद दिलाती रहेगी
बरसात में दीवारों की तरह नोनी पकड़ लेगी
नोनी लगी टूटी-फूटी दीवारों के
काँप उठने के बावजूद
शहीदों तुम्हारे नामों की ज्वाला
कोई बुझा नहीं पायेगा
अत्याचारों के हज़ारों हाथ
जीवन्त आशाओं का गला नहीं दबा सकते
वह दिन आ रहा है
हम सारी दुनिया के लोग एकजुट हैं
हम अनेक लोग
आगे बढ़ते जा रहे हैं
सहने के ये आख़िरी दिन हैं
बहुत भारी लड़ाई लड़ के
फ़ैसले का वह एक दिन छीन लिया गया है
और तुम
ओ मेरे वंचित भाइयो!
ख़ामोशी से निकलकर तुम्हारी आवाज़ उठेगी
आज़ादी की असंख्य आवाज़ों से मिलने
मनुष्य की आशाएँ और आकांक्षाएँ
दिग्विजयी विद्युत्-छटाओं से मिलने
निकल पड़ी हैं

('सड़कों, चौहों पर मौत और लाशें' कविता का एक अंश)

अनुवाद : रामकृष्ण पाण्डेय

# चुनावी बॉण्ड : पूँजीपतियों और चुनावी पार्टियों का अटूट और गुमनाम रिश्ता

(पेज 16 से आगे)

ना तो दानदाता पता चल सकता है और ना ही ये पता चल सकता है कि कौन-सा चन्दा किस पार्टी को गया। मई 2019 में हुए लोकसभा चुनावों के समय केवल तीन महीने के अन्दर ही 4444 करोड़ रूपये का चन्दा, चुनावी बॉण्ड के रूप में दिया गया। यानि कुल चन्दे का 73% चन्दा केवल लोक सभा चुनाव के समय दे दिया गया। मई 2019 में लोकसभा चुनाव थे और मार्च 2019 में चन्दे की रक़म 1365 करोड़ हुई, जो अप्रैल 2019 में बढ़कर 2256 करोड़ हो गयी और मई 2019 के एक हफ़्ते की विण्डो में 822 करोड़ का चन्दा दिया गया। आँकड़े साफ़ बताते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में चुनाव में किस तरह पैसा झोंक दिया जाता है जिससे पार्टियाँ अपनी जीत सुनिश्चित करती हैं। 2018-19 के वित्तीय वर्ष में कुल चन्दे की रक़म 2550 करोड़ थी और वही रक़म 2019-20 के वित्तीय वर्ष के आठ महीनों में ही 3355 करोड़ हो चुकी है। यानि चुनावी चन्दे का आकार बढ़ रहा है और ये जैसे-जैसे बढ़ेगा वैसे-वैसे ही पूँजीपतियों के हित में नीतियाँ बनती जायेंगी और आम मेहनतकश जनता को दबाने और कुचलने का सिलसिला भी बढ़ता जायेगा। 91.7% चुनावी बॉण्ड 1 करोड़ मूल्य के लिये गये और 7.9% चुनावी बॉण्ड दस लाख मूल्य के लिये गये। मतलब कुल 99.6% चुनावी बॉण्ड एक करोड़ या दस लाख मूल्यवर्ग में लिये गये। ज़ाहिर सी बात है कि इतना बड़ा चन्दा केवल पूँजीपतियों की कम्पनियों ने ही दिया होगा। चुनावी बॉण्ड सरकार द्वारा निर्धारित एसबीआई बैंक से ही ख़रीदे जा सकते हैं और ये सुविधा कुल 29 शहरों में मौजूद है पर सबसे ज़्यादा चुनावी बॉण्ड मुम्बई में ख़रीदे गये और उसके बाद कोलकाता व दिल्ली में। इनमें लगभग 80 फ़ीसदी बॉण्डों को केवल दिल्ली में भजाया गया। इसका मतलब है विभिन्न मेट्रोपोलिटन शहरों से ज़्यादातर चन्दा मिला और कुल 6000 करोड़ के चन्दे में से 4917 करोड़ रूपये के चन्दे को केवल दिल्ली में ही भुनाया गया। उसके बाद हैदराबाद और भुवनेश्वर में भुनाया गया।

एडीआर की एक रिपोर्ट बतलाती है कि 2012-13 और 2015-16 के बीच ही भाजपा को कॉरपोरेट घरानों द्वारा अधिकतम राशि 706 करोड़ रूपये प्राप्त हुई थी जबकि कांग्रेस को 199 करोड़ के साथ दूसरा सबसे ज़्यादा चन्दा मिला था। उसके बाद चुनावी बॉण्ड के पहले चरण की बिक्री 2017-18 के वित्तीय वर्ष में हुई थी जिसमें कुल 220 करोड़ की राशि का चन्दा दिया गया था और उस वित्तीय वर्ष में जब राजनीतिक पार्टियों का ऑडिट किया गया तो पता चला कि केवल भाजपा को ही 95% चन्दे की राशि मिली है। इससे साफ़ पता चलता है कि क्यों चुनावी बॉण्ड वाले वित्तीय विधेयक को लोक सभा में मनी बिल बनाकर जल्दी से जल्दी पास करवाया गया। भाजपा कुछ भी करके 2019 लोकसभा चुनावों के पहले चुनावी बॉण्ड लागू करना चाहती थी। 2018-19 वित्तीय वर्ष के 2550 करोड़ के चुनावी चन्दे का 450 करोड़ क्षेत्रीय पार्टी जैसे बीजू जनता दल, टीआरएस और वाईएसआर कांग्रेस को मिला है जो इनकी ऑडिट रिपोर्टों से पता चला है पर भाजपा और कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय पार्टियों ने अब तक अपनी ऑडिट रिपोर्ट भी जमा नहीं की हैं जो अक्टूबर 2019 तक हो जानी चाहिए थीं इसलिए केवल अनुमान लगाया जा सकता है कि 2550 करोड़ का बड़ा हिस्सा इन दो पार्टियों को ही गया होगा जिसमें भाजपा का हिस्सा कांग्रेस से कहीं ज़्यादा होगा। 2019-20 वित्तीय वर्ष के और बड़े 3355 करोड़ के चुनावी चन्दे का कितना हिस्सा किस पार्टी को मिला ये जानने के लिए एक साल और रुकना पड़ेगा। पर इस सब से एक बात तो निश्चित है कि पूँजीपतियों द्वारा दिया जाने वाला चन्दा ज्यों-ज्यों बढ़ रहा है वैसे ही भाजपा द्वारा कॉर्पोरेट टैक्स में छूट, श्रम क़ानूनों में बदलाव, प्राकृतिक सम्पदा का आसानी से निजी हाथों में सौंपना और सरकारी उपक्रमों का कौड़ियों के दाम पूँजीपतियों को बेचना भी बढ़ता रहा है।

आरटीआई के माध्यम से पता चला है कि जनवरी 2017 में ही भारतीय रिज़र्व बैंक ने चुनावी बॉण्ड को लेकर ये आशंका जतायी थी कि इसके माध्यम से पूँजीपति काले धन को सफ़ेद धन में तब्दील कर देंगे और इसे लागू करने से गोपनीय धन के स्रोत का भी कुछ पता नहीं चलेगा। इसी प्रकार चुनाव आयोग ने भी मुखौटा कम्पनियों (फ़र्ज़ी कम्पनियों) द्वारा बॉण्ड की ख़रीद को अनुमति देने पर चिन्ता व्यक्त की थी। परन्तु फिर भी मोदी सरकार ने रिज़र्व बैंक और चुनाव आयोग की इन चेतावनियों को दरकिनार कर दिया और चुनावी बॉण्ड को तेज़ी से लागू करवाया।

तथाकथित लोकतांत्रिक चुनाव पूँजीपतियों द्वारा दिये इस चन्दे के दम पर ही होते हैं। यही चन्दा चुनावी रैलियों में लोगों को बाँटा भी जाता है, मीडिया ख़रीदा जाता है, आई.टी. सेल द्वारा सोशल मीडिया पर झूठ फैलाये जाते हैं, इससे ही नेता भी ख़रीदे जाते हैं और इससे ही सीबीआई से लेकर जजों तक को अपने हक़ में किया जाता है। असली में ये पूँजीतंत्र है जिसको लोकतंत्र का मुखौटा पहनाया गया है। यह भी जानना ज़रूरी है कि ये कुल चन्दे का केवल बॉण्ड द्वारा लिया गया हिस्सा है। इसके अलावा चुनावी ट्रस्ट द्वारा दिया जाने वाला चन्दा अलग है। 2019 में भाजपा को चुनावी ट्रस्ट द्वारा 800 करोड़ और कांग्रेस को 146 करोड़ प्राप्त हुए। बड़े उद्योग घराने जैसे टाटा, एयरटेल, डीएलएफ़, हीरो इत्यादि ने अपने-अपने ट्रस्ट स्थापित किये हुए हैं और ये इनके माध्यम से सभी चुनावी पार्टियों को मौक़े के हिसाब से चन्दा देते हैं। चुनावी बॉण्ड और चुनावी ट्रस्ट के अलावा एक कम्पनी से दूसरी कम्पनी को किये गये अवैध कारोबार में से भी राजनीतिक पार्टियों को चन्दा दिया जाता है जिसका अनुमान लगाना भी मुश्किल है। राजनीतिक पार्टियाँ, पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी होती हैं। ये चन्दा लेकर पूँजीपतियों के पक्ष में नीतियाँ बनाती हैं और आम मेहनतकश जनता को बाँटने, उलझाने और भटकाने का काम करती हैं। आम मेहनतकश जनता एक ऐसे तथाकथित लोकतंत्र में रह रही है जो वास्तव में कुछ मुट्ठी भर लोगों का ही लोकतंत्र है। इन मुट्ठी भर लोगों में आते हैं बड़े उद्योगपति, अमीर सेठ, नेता और उन्हीं के तलवे चाटता उच्च मध्य वर्ग। बाक़ी बची ग़रीब मेहनतकश जनता के लिए ये कॉरपोरेट और वित्तीय पूँजी की तानाशाही है।

डाक पंजीयन : SSP/lW/NP-319/2017-2019
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

# काकोरी के शहीदों की क़ुर्बानी हमें आवाज़ दे रही है

काकोरी काण्ड के शहीदों और उनके द्वारा स्थापित हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन की विरासत को भगतसिंह-आज़ाद और उनके साथियों ने आगे बढ़ाया और आज़ादी के पौधे को उन्हीं की तरह अपने रक्त से सींचा। उन सभी क्रान्तिकारियों का सपना एक ऐसे आज़ाद देश का निर्माण करना था जहाँ ऊँच-नीच, जाति-धर्म, मालिक-मजूर, किसी तरह की ग़ैरबराबरी नहीं होगी। मगर देश के शासक वर्ग एक ख़तरनाक साज़िश के तहत इन शहीदों की क्रान्तिकारी विरासत को धूल व राख के नीचे दबाते रहे हैं। 1947 के बाद से देश की सत्ता में आयी सभी सरकारें इन शहीदों की क्रान्तिकारी विरासत से डरती थीं और उनके विचारों को लोगों तक पहुँचने से रोकती रहीं। आज भूरे साहबों के हाथों देश की जनता जिस भयंकर दुर्दिन को झेल रही है, उसे देखते हुए ज़रूरत इस बात की है कि देश के नौजवान काकोरी के शहीदों और भगतसिंह-आज़ाद जैसे क्रान्तिकारियों द्वारा छेड़ी गयी लड़ाई के परचम को थामकर निर्णायक जंग के लिए आगे बढ़ें। मगर उन्हें जाति-धर्म के नाम पर आपस में एक-दूसरे से लड़ाया जा रहा है।

रामप्रसाद बिस्मिल | अशफ़ाक़उल्ला ख़ाँ | राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी | रोशनसिंह

शहादत

19 दिसम्बर, गोरखपुर | 19 दिसम्बर, फैजाबाद | 17 सितम्बर, गोण्डा | 19 दिसम्बर, इलाहाबाद

## जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो !

**अशफ़ाक़उल्ला** ने लिखा था, **"मैं विदेशी शासन को एक बुराई समझता हूँ पर साथ ही मैं किसी ऐसे हिन्दुस्तानी शासन से भी नफ़रत करता हूँ, जिसमें कमज़ोरों को उनके अधिकारों से वंचित किया जायेगा। या फिर उसमें अमीरों और ज़मींदारों का ही बोलबाला होगा। या फिर सरकार के क़ानून ग़ैरबराबरी और भेदभाव के आधार पर बनाये जायेंगे।"**

आम जनता इन समस्याओं के ख़िलाफ़ न लड़ सके इसके लिए कभी 'लव जिहाद' कभी गाय, कभी मन्दिर-मस्जिद तो कभी नागरिकता के नाम पर जनता को आपस में लड़ाने का खेल खेलकर अंग्रेज़ों की 'फूट डालो-राज करो' की नीति को वे लोग आज बख़ूबी आगे बढ़ा रहे हैं जो अंग्रेज़ी राज के समय से इसी गन्दे खेल में लगे रहे हैं। **जब इस देश के सभी धर्मों के क्रान्तिकारी नौजवान आज़ादी के लिए हँसते-हँसते जान पर खेल रहे थे, तब आरएसएस और हिन्दू महासभा जैसे संगठनों के लोग अंग्रेज़ों की मुख़बिरी कर रहे थे, जनता को हिन्दू-मुसलमान के नाम पर आपस में बाँट रहे थे और माफ़ीनामे लिखकर अंग्रेज़ हुकूमत से पेंशन ले रहे थे।** काकोरी काण्ड के शहीद ऐसी साज़िशों को बख़ूबी समझते थे। फाँसी पर लटकाये जाने से सिर्फ़ तीन दिन पहले लिखे ख़त में अशफ़ाक़उल्ला ने देशवासियों को आगाह किया था कि **"सात करोड़ मुसलमानों को शुद्ध करना नामुमकिन है, और इसी तरह यह सोचना भी फ़िज़ूल है कि पच्चीस करोड़ हिन्दुओं से इस्लाम क़बूल करवाया जा सकता है। मगर हाँ, यह आसान है कि हम सब ग़ुलामी की ज़ंजीरें अपनी गर्दन में डाले रहें।"**

इसी तरह अशफ़ाक़उल्ला के परम मित्र **रामप्रसाद बिस्मिल** ने शहादत से पहले जनता के नाम यह वसीयत की थी कि **"यदि देशवासियों को हमारे मरने का ज़रा भी अफ़सोस है तो वे जैसे भी हो हिन्दू-मुस्लिम एकता क़ायम करें। यही हमारी आख़िरी इच्छा थी, यही हमारी यादगार हो सकती है।"**

इसी माह में 26 दिसम्बर को **शहीद ऊधमसिंह** का भी जन्मदिवस है। पंजाब के संगरूर ज़िले के सुनाम में जन्मे ऊधमसिंह ने पंजाब के गवर्नर रहे माइकल ओ'ड्वायर को लन्दन में 13 मार्च 1940 को गोली मारकर जलियाँवाला बाग़ हत्याकाण्ड का बदला लिया था। उन्होंने भी धर्म के नाम पर जनता को बाँटने की राजनीति का हमेशा विरोध किया। इसीलिए उन्होंने अपना नाम बदलकर राम मोहम्मद सिंह आज़ाद रख लिया था।

इन शहीदों की याद हमें हर तरह के कट्टरपन्थ से लड़ने की प्रेरणा देती है। आज़ादी और बराबरी के इन मतवालों को याद करने का मतलब यही हो सकता है कि हम धर्म और जाति के भेदभाव भूलकर इस देश के लुटेरों के ख़िलाफ़ एकजुट हो जायें और इस ख़ूनी निज़ाम को उखाड़ फेंकने की तैयारियों में जुट जायें। आज सभी नौजवानों और आम मेहनतकशों को हमें मज़हब के नाम पर बाँटने और हमारी लाशों पर रोटियाँ सेंकने की साज़िश को समझ लेना होगा। हमें इसका जवाब आपस में फ़ौलादी एकजुटता क़ायम करके और इन्क़लाबी संगठनों में संगठित होकर देना होगा।

# चुनावी बॉण्ड : पूँजीपतियों और चुनावी पार्टियों का अटूट और गुमनाम रिश्ता

**– पराग**

सभी जानते हैं कि भारत में चुनावी दल, चुनाव के दौरान ख़ूब ख़र्च करते आये हैं और ये सवाल हमेशा उठता रहा है कि ख़र्च करने के लिए उनके पास धन कहाँ से आता रहा है। 2017 तक बीस हज़ार रुपये से ऊपर के चन्दे को चेक से लिया जाता था जिसका रिकॉर्ड रहता था पर उससे कम क़ीमत के चन्दे को किसी रसीद की आवश्यकता ही नहीं होती थी। सभी दल इस प्रावधान का ख़ूब इस्तेमाल करते रहे और उनका अधिकांश चन्दा बीस हज़ार रुपये से कम का यानी बिना किसी रसीद का होता था। माना जाता रहा है कि बीस हज़ार रुपये से कम का यह चन्दा करोड़ों में था, जिसका बड़ा हिस्सा कालाधन था। सरकार ने 2017 में चुनावी बॉण्ड की घोषणा कथित तौर पर राजनीतिक दलों के चन्दा जुटाने की प्रक्रिया को पारदर्शी बनाने के उद्देश्य से की। घोषणा के मुताबिक़ ये बॉण्ड भारतीय स्टेट बैंक की चुनिन्दा शाखाओं से मिल सकेंगे और इसकी न्यूनतम क़ीमत एक हज़ार रुपये जबकि अधिकतम एक करोड़ रुपये होगी।

कहने को तो चुनावी बॉण्ड की यह योजना चुनावी फ़ण्डिग को साफ़-सुथरा और पारदर्शी बनाने के लिए लायी गयी थी। परन्तु हुआ पारदर्शिता के ठीक उलट और असलियत में ये चुनावी बॉण्ड देशी-विदेशी पूँजीपतियों द्वारा दिये जाने वाले राजनीतिक चन्दे का पूर्णतः गोपनीय और व्यवस्थित साधन साबित हुए। इन बॉण्ड को पूँजीपतियों द्वारा बैंक से ख़रीदने और फिर चुनावी पार्टियों द्वारा इनको भजा लेने की जो प्रक्रिया लायी गयी वो पूरी तरह गोपनीय है। किस पूँजीपति ने कितने रुपये के चुनावी बॉण्ड ख़रीदे, वो बॉण्ड किस चुनावी पार्टी को दिये या वो बॉण्ड किसी और पूँजीपति को बेच दिये, इस तरह की कोई भी ऐसी जानकारी ना तो जनता को पता चल सकती है और ना ही चुनाव आयोग को।

ये सब हासिल करने के लिए मोदी सरकार ने चुनावी बॉण्ड को फ़ाइनेंस एक्ट 2017 द्वारा लागू किया। पर इस एक्ट द्वारा चुनावी बॉण्ड के कार्यान्वयन के लिए पाँच और एक्ट में बदलाव पहले ही कर लिये गये थे। लोक प्रतिनिधित्व एक्ट 1951 में संशोधन किया गया था जिससे चुनावी पार्टियों को चुनावी बॉण्ड से मिले हुए चन्दे के दानदाता का विवरण चुनाव आयोग को बताने की आवश्यकता ही ना रहे। उस वक़्त चुनाव आयोग ने इस पर यह कहते हुए आपत्ति भी जतायी थी कि ऐसे में चुनावी पार्टियाँ, विदेशी कम्पनियों से भी चन्दे ले लेंगी जो कि ग़ैर-क़ानूनी है, पर चुनाव आयोग की इस चेतावनी को दरकिनार कर दिया गया। कम्पनी एक्ट 2013 में भी संशोधन किया गया था जिसमें कम्पनियों द्वारा चन्दा देने की प्रतिबन्धित सीमा को बदल दिया गया। पहले कम्पनियाँ अपने औसत मुनाफ़े का केवल 7.5 प्रतिशत ही चन्दे के रूप में दे सकती थीं और ये उनकी बैलेंस शीट में चुनावी पार्टी के नाम के साथ दर्ज होता था पर इस संशोधन के बाद ये प्रतिबन्धित सीमा हटा दी गयी जिसका मतलब है कि अब कम्पनियाँ राजनीतिक पार्टियों को बेलगाम चन्दा दे सकती हैं और उन्हें अपने रिकॉर्ड में केवल बॉण्ड ख़रीद की राशि के रूप में दिखाना होगा। चुनाव आयोग ने इस संशोधन पर भी आपत्ति जतायी थी और कहा था की इससे "मुखौटा" कम्पनियाँ या "छद्म" कम्पनियाँ स्थापित की जायेंगी जिनके माध्यम से बेहिसाब विदेशी चन्दा चुनावी पार्टियों को चुनावी बॉण्ड द्वारा दिया जायेगा, पर चुनाव आयोग के इस इशारे को भी नज़रअन्दाज़ कर दिया गया। फ़ॉरेन कण्ट्रीब्यूशन (रेगुलेशन) एक्ट में भी संशोधनों से विदेशी स्रोत से राजनीतिक दलों को चन्दा मिलना आसान किया गया। इन्कम टैक्स ऐक्ट में संशोधन से इन चन्दों को टैक्स प्रणाली के बाहर रखा गया और रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट में संशोधन द्वारा चुनावी बॉण्ड को धारक बॉण्ड बना दिया गया है जिससे उसमें लगने वाले पैसे के स्रोत और रास्ते का कोई पता ना चल सके। इन पाँचों संशोधनों से साफ़ ज़ाहिर है कि भाजपा की मंशा इस ऐक्ट के माध्यम से साफ़ यही थी कि वो पूँजीपतियों से मिलने वाले चन्दे पर कोई रोकथाम नहीं चाहती थी बल्कि इसके माध्यम से उसने असीमित राशि के चन्दे और देशी-विदेशी सभी चंदों के लिए पूरे रास्ते खोल दिये।

आरटीआई के माध्यम से मिले कुछ तथ्यों के अध्ययन से पूँजीपतियों और राजनीतिक पार्टियों के गँठजोड़ की और परतें उजागर हो जाती हैं। जनवरी 2018 से अब तक 12 चरणों में 6000 करोड़ से भी ज़्यादा रुपये चुनावी बॉण्ड के रूप में चुनावी पार्टियों के खाते में जा चुके हैं। इन बॉण्ड के माध्यम से पार्टियों को मिलने वाले चन्दे का आम जनता को

(पेज 15 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ▯ सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006